BHARTIYA SANSKRIT KE SWAR

भारतीय संस्कृति के स्वर



राजपाल एण्ड सन्ज़

भारतीय संस्कृति के स्वर

महादेवी वर्मा

मूल्य : सोलह रुपये (16.00)

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली 110006, द्वारा प्रकाशित
प्रथम संस्करण 1984 : © महादेवी वर्मा
BHARATIYA SANSKRITI KE SWAR
(Essays) by Mahadevi Verma

दो शब्द

ग्रन्थ शब्द के समान निबन्ध भी अपने मूल अर्थ को खोकर रूढ़ हो गया है। उसका शाब्दिक अर्थ तो नि+वन्ध+धम प्रत्यय ही है जिसका अर्थ बांधना है, किन्तु अब वह साहित्य की एक इतनी महत्वपूर्ण विधा के अर्थ में प्रयुक्त होता है जो कविता का भी निकष या कसौटी कहा जाता है।

पहले जब भोजपत्र लिखने के लिए प्रयुक्त होता था तब उन छिन्न पत्रों को बांधकर रखना आवश्यक हो जाता था, अतः इस बन्धन क्रिया को निवन्ध कहना स्वाभाविक था। कालान्तर में जब यह बन्धन साहित्यिक विधा के लिए रूढ़ हो गया, तब निःशेष बंध या भावों या विचारों की शृंखलित सरणि ही उसकी सीमा हो गई। हिन्दी में समानांतर अनेक शब्द प्रचलित हैं, परन्तु वे प्रबन्ध, रचना, लेख आदि निबन्ध की प्रकृति से भिन्न हैं। रचना और लेख जैसे शब्द तो अपनी अतिव्याप्ति के कारण निबन्ध से भिन्न रहेंगे ही, पर प्रबन्ध जो किसी समय निबन्ध का समानार्थक था अब उससे सर्वथा भिन्न है।

पहले प्रबन्ध काव्य चरितकाव्य के लिए प्रयुक्त होता रहा, अब वह किसी विषय की शोधपूर्ण विशद व्याख्या के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

निबन्ध शब्द तो मूलतः संस्कृत का है, परन्तु अब कुछ विद्वान उसे अंग्रेजी के समानार्थक एस्से (Essay) के रूप में विकसित मानते हैं। वह शब्द मूलतः लेटिन से अंग्रेजी में आया है और अंग्रेजी में उसे जो स्वच्छन्दता, लघुता आदि विशेषताएं प्राप्त हुई हैं वे हिन्दी के निबन्ध शब्द में नहीं है। हिन्दी का ललित निबन्ध ही कुछ-कुछ 'एस्से' के निकट पहुंचता है।

हिन्दी निबन्ध का विकास 19 वीं शती में जैसा हुआ है, वैसा इसके पूर्व सम्भव नहीं था। वैसे गद्य तो हमारे प्राचीन साहित्य में ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद् तथा अन्य शास्त्रीय टीकाओं, व्याख्याओं आदि में प्रचुर परिमाण में मिलता है।

वस्तुतः उन्नीसवीं शती में जो जागरण काल आरम्भ हुआ, उसमें हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन, स्वतन्त्रता, समाज, संस्कृति आदि की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न आदि कुछ ऐसे कारण उत्पन्न हो गए, जिनसे गद्य के विकास को बल मिला और वृहद् ग्रंथों के स्थान में लघु और संक्षिप्त निबन्ध विधा का प्रयोग अधिकाधिक होने लगा।

परिणामतः निबन्धों को विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक, विवरणात्मक जैसी कोटियों में विभाजित करने की परम्परा चल पड़ी और आज तो उन विभाजनों का लेखा-जोखा भी कठिन है।

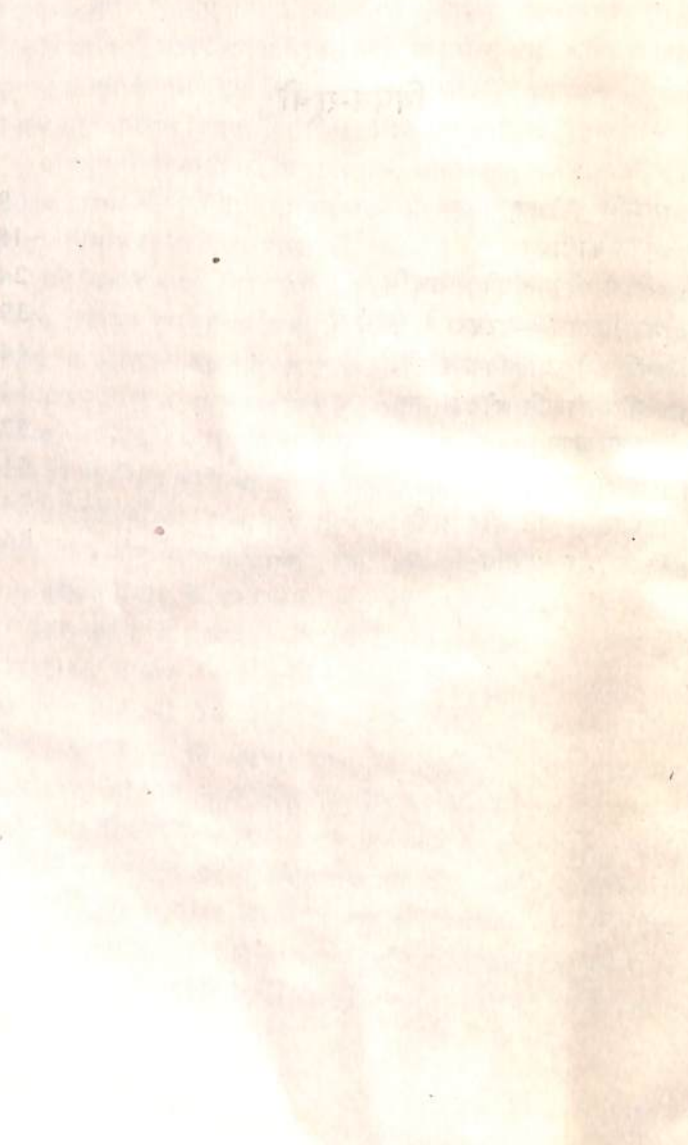
मेरे विचार में इन विभाजनों के बीच में कोई कठिन रेखा नहीं होती, क्योंकि प्रायः एक दूसरे में अनुस्यूत हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त शैली में यदि लेखक का व्यक्तित्व आ जाता है तो उसकी अनेक प्रवृत्तियों को भी न्यूनाधिक स्थान मिल जाना स्वाभाविक है। वह भाव को किसी एक कटघरे में बन्द कर या विचार को किसी दूसरे में रखकर तो लिखता नहीं। शृंखलित करने या निबन्धित करने का प्रयत्न करता अवश्य है। परन्तु व्यक्ति की मानसिक वृत्तियों का सम्मिलित परिणाम ही तो उसके व्यक्तित्व का संगठन होता है और लेखन के समय उसकी सभी वृत्तियां सजग रहती हैं।

अपने निबन्धों के सम्बन्ध में क्या कहूं। उनके सम्बन्ध में तो दूसरे ही बता सकते हैं। कविता लिखने से गद्य लिखना अवश्य ही कठिन रहा होगा, अन्यथा "गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति" न कहा जाता। यह कदाचित् सत्य भी है। भाव को उसकी तीव्रता के साथ किसी चरम बिन्दु पर पकड़ने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वह अपनी अभिव्यक्ति का मार्ग स्वयं खोज लेता है। परन्तु विचार का ऐसा कोई चरम बिन्दु न होने के कारण समय के प्रवाह में बहते हुए विचारों के बिखराव के संयोजन की आवश्यकता रहेगी ही। इसके अतिरिक्त भाव की आवृत्ति या अनुकरण अपनी इच्छानुसार सम्भव नहीं है, किन्तु विचार अनेक बार प्रत्यावर्तित होने और अनूदित होने की क्षमता रखता है। भाव के सम्बन्ध में तर्क नहीं दिया जा सकता, परन्तु विचार को तर्क से प्रमाणित किया जा सकता है।

माघ पंचमी
सं० वि० 2040

महादेवी वर्मा

विषय-सूची



मातृभूमि देवोभव

हमारा अत्यन्त प्राचीन देश है और हमारी संस्कृति भी अत्यन्त प्राचीन है। प्राचीन संस्कृति वाले देशों के सामने समस्याएं कुछ दूसरी हुआ करती हैं। जिनकी सभ्यता कुछ ही युगों की है, कुछ ही वर्षों की है, नवीन है, उनके पास बहुत कुछ खाने बदलने को नहीं है और खाने बदलने से उनकी कुछ हानि भी नहीं होती। किन्तु जहां प्राचीन संस्कृति होती है वहां जीवन के कुछ मानवीय मूल्य होते हैं, कुछ परीक्षित मूल्य होते हैं और हर नये युग में उनकी नई परीक्षा करनी पड़ती है, और फिर प्रयोग में उनको तपाना पड़ता है, देखना पड़ता है कि आज के युग में वे कहां ठहरते हैं। इस प्रकार इतने विशाल देश ने इतने युगों के उपरांत जिन मानवीय मूल्यों की स्थापना कर उनकी परीक्षा की, उनका प्रयोग किया, उनको लेकर ही आप किसी कर्म के क्षेत्र में जा सकते हैं। उन्हें एकाएक बदला नहीं जा सकता।

आज का कर्मक्षेत्र कठिन है, विविध है, निश्चित नहीं है। हमारा वर्तमान समाज जाति-उपजाति, समता-विषमता में विभाजित है। हमारा धर्म अंधविश्वास से ग्रसित है। हमारी राजनीति स्वार्थ में विभाजित है। हम केवल विभाजित ही विभाजित हैं। तब भी यह मैं विश्वास करती हूं किसी युग का सबसे बड़ा निर्माण उसका विद्यार्थी है। किसी युग का सबसे बड़ा बसन्त उसका तारुण्य है, उसकी नई पीढ़ी है। जब वह पराजित होती है तो सब कुछ पराजित हो जाता है, सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। यदि आप निराश हों, आप कहें कि समाज में हमारा स्थान नहीं है, कर्म-क्षेत्र में हमारा स्थान नहीं है, राजनीति में हमारा कोई स्थान नहीं है, तो मैं आपको यही उत्तर दूंगी कि आप स्थान बनाइए। कोई नदी जो हिमालय के हृदय से निकलती है, चाहे बड़ी या छोटी धारा में निकले, शिलाओं से वह मार्ग नहीं मांगती। क्या उसने कभी कहा है कि घाट बनाइए, संगमरमर के या सोने के, चांदी के। उसने यह कभी नहीं कहा। वह शिलाओं को पार

करती हुई अपने उच्छल वेग में सब पार करती हुई चलती है और उसका नियम है कि तट वह स्वयं बनाती है। इसी प्रकार प्रत्येक पीढ़ी अपना मार्ग आप बनाती है। लेकिन अपनी मर्यादा भी बनाती है, जो नदी समुद्र से हिमालय को जोड़ती है वह नदी मर्यादा भी बनाती है। वह नदी तट भी बनाती है, तट उसे बने बनाए नहीं मिलते।

आप यदि यह सोचते हैं कि किस दशा में जाएं, तो आपके लिए आवश्यक है कि आप जीवन मर्यादाएं बनाएं और जीवन को वहां पहुंचाएं जहां हमारी संस्कृति का लक्ष्य था। यह स्थिति ऐसी है, विद्यार्थी का जीवन ऐसा है कि जिसमें तीन युग मिलते हैं, तीन पीढ़ियां मिलती हैं, तीन स्वप्न मिलते हैं। आप यह समझ लें कि अतीत में जो था वह आज आपको प्राप्त है, इस युग की जो परीक्षा है, प्रयोग की स्थिति है वह भी आपको प्राप्त है। भविष्य का जो स्वप्न है, वह भी आपके सम्मुख है। आपका उत्तराधिकार एक प्रकार से त्रिगुणात्मक है। तीन प्रकार का है। आपके अतीत में जो मूल्य थे, जीवन के जो मूल्य थे, उनको नए युग में परीक्षित करके भविष्य का चित्र बना लें तो निश्चित रूप से आप अपने देश को अपने लक्ष्य की ओर ले जाएंगे। हमारे यहां शिक्षा तो वास्तव में ज्ञान के संप्रेषण की विधि है। शिक्षा का अर्थ है सिखलाना। लेकिन हम सिखलाएंगे क्या? इसके लिए हमारे यहां शब्द है विद्या। विद्या को शिक्षा के माध्यम से प्रेषणीय करते हैं हम। और विद्या है, वह ज्ञातव्य, वह विषय, जो हम आप तक पहुंचाना चाहते हैं। हमारे यहां मनीषियों ने इस विद्या को अर्थकरी और परमार्थकरी दो भागों में बांटा है। अर्थकरी विद्या वह विद्या है जो समाज में आपको उपयोगी बनाती है, जो आपको जीवन की आजीविका की सुविधाएं देती है, जिससे आप कर्म के क्षेत्र में, गांव में, नगर में, राष्ट्र में अपना स्थान बनाते हैं और परमार्थकरी विद्या वह विद्या है जिससे आप समष्टि से जुड़ते हैं। उसमें मानवीय मूल्य है, जिससे आपका हृदय बनता है, आपकी बुद्धि बनती है, आप उदार बनते हैं, स्नेहशील बनते हैं, सद्भाव एवं संपन्नता से पूर्ण मानव बनते हैं जिससे आपकी बुद्धि और हृदय का परिष्कार होता है।

अब जब कभी ऐसा होता है कि किसी देश में अंधकार का युग आ गया

हो, कोई देश परास्त हो गया हो, बहुत दिनों तक दास रहा हो तो उसकी जितनी भी उज्जवल परंपराएं हैं वे सब खो जाती हैं और उनमें बहुत कुछ ऐसा मिल जाता है जो वास्तव में जीवन को बल नहीं देता।

हर सोने में कुछ खोट भी तो होता ही है, कुछ मिट्टी भी तो आ ही जाती है। उसको हम अग्नि में तपा कर उसमें, जो कुछ खोट है उसको जला देते हैं, जो खरा है उसको ले लेते हैं। इसी प्रकार जीवन की स्थिति है।

हम इतने वर्षों तक दास रहे हैं और जो हमारे शासक थे उनकी शिक्षा का उद्देश्य केवल यह था कि हम उनके कार्यालयं में, उनके आफिस में बाबू बन जाएं। मैकाले साहब और क्या चाहते थे, इतना ही चाहते थे अपनी शिक्षा से। इसलिए आपकी विद्या का प्रश्न और आपकी परमार्थकरी विद्या का प्रश्न वहां उठ ही नहीं सकता था। तब तो नहीं उठ सकता था, किन्तु वास्तव में जब हम स्वतंत्र हुए, तभी उठना चाहिए था। लेकिन संयोग से, दुर्योग से या मैं कहूंगी कि दुर्भाग्य से जिस क्षण हम स्वतंत्र हुए उस क्षण एक ऐसे रक्तपात में, एक ऐसे विभाजन में पड़ गए कि हमें इतना अवसर ही नहीं मिला और अब यह स्थिति है कि उसी चौखटे में हम नई तस्वीर जड़े हुए हैं, जो उपयुक्त है या नहीं, हम नहीं जानते। तो हमारा विद्यार्थी सचमुच एक ऐसी स्थिति में है जिसमें शिक्षा तो है, संप्रेक्षण की विधि है। संप्रेक्षण की विधियां तो बहुत प्रतिपादित की गई हैं। आप पुस्तकें देख लीजिए शिक्षण विधि में कितने प्रकार हैं, कितने प्रशिक्षण हैं केवल प्रशिक्षण ही प्रशिक्षण, परन्तु किस वस्तु का क्या प्रशिक्षण होगा, यह हम अभी तक नहीं जानते हैं। उस पर कोई पुस्तक नहीं है, क्योंकि वह पुस्तकीय है ही नहीं। वह तो हमारे शास्त्रों में है, हमारे दर्शन में है, हमारे धर्म में है। उनमें से उसे खोजकर हमें निकालना है। तो यह सही है कि आज का स्नातक कहेगा कि जब आप कुछ नहीं खोज सके, तो मैं क्या करूं? मैं इसका उत्तर भी दूंगी। बादल समुद्र से जल लाता है, समुद्र का क्षार नमक गठरी भरकर नहीं ले आता, उसमें जो माधुर्य है जो मधुर जल है वही लाता है। कभी-कभी जीवन की परीक्षा ऐसी आती है कि जिसमें आपको अकेले खड़े होना है, उसके लिए सभीत न हों, जो आपको इन परिस्थितियों

में मिला, जो आपको अपने शुरू से मिला उसे आप अपने जीवन की कसौटी पर, सत्य की कसौटी पर कसें और देखें कि वास्तव में जो आपकी संस्कृति में मूल हैं, मानवीयतत्व हैं, क्या आप उनका उपयोग कर सकते हैं ?

आज का घोर वैज्ञानिक युग है। लेकिन मैं आपसे पूछती हूं कि कोई आपसे कहे कि चन्द्रमा में आपको पहुंचा देंगे, लेकिन गौरीशंकर शिखर को हमें डाइनामाइट से उड़ा देने दीजिए, आप अपना हिमालय दे दीजिए, हम आपको चन्द्रमा में स्थान दे देंगे। क्या आप स्वीकार करेंगे ? कोई आपसे कहे कि आप गंगा-यमुना दे दीजिए हम आपको मंगल ग्रह तक पहुंचाते हैं, आप नहीं राजी होंगे, नहीं होंगे, नहीं होंगे। उसका कारण है। हम इस धरती से बने हैं, इसके साथ आपकी आत्मा का संबंध है। आप इसका संदेश लेकर के विज्ञान से उसका समन्वय कर सकते हैं, विज्ञान के लिए इसे छोड़ नहीं सकते। इसका एक कण भी आप नहीं दे सकते। न हिमालय दे सकेंगे, न गंगा-यमुना दे सकेंगे, न यह हरी-भरी धरती दे सकेंगे। संसार में इतना सुन्दर देश दूसरा नहीं है। जिन्होंने बाहर जाकर देखा है वे भी यही कहेंगे कि वास्तव में ऐसी हरी-भरी भूमि जिसमें तुषारमंडित हिमालय भी है जिसमें सूर्य की किरणें केसर की फूलों की तरह शोभा बरसाती हैं, जिसके कंठ में इतनी नदियों की माला पड़ी हुई है—गंगा-यमुना जैसी नदियां हैं जिसमें जिसके चरण तीन ओर से कन्याकुमारी में सागर धोता है कितनी हरी-भरी है, कितनी सम विषम है सुजला सुफला, भारत की ही धरती है और इसको हम चाहते हैं, इससे हमारा रागात्मक संबंध है, इससे हमारा स्नेह का संबंध है।

इस धरती में जो कुछ जीवन के मूल्य मिलें, उनको लेकर हम आज के वैज्ञानिक युग से उसका समन्वय करेंगे, देखेंगे कि वैज्ञानिक युग हमें क्या देता है।

आप देखेंगे एक दिन ये जीवन के मूल्य बृहत्तर भारत तक फैल गए थे। जिसे बृहतर भारत कहते हैं उसके—सुमात्रा, जावा, इन्डोनेशिया, स्याम के—जितने मित्र बन्धु आते हैं वे कहते हैं मुझसे कि आपकी रामायण या आपकी महाभारत हम तो उसे अपना मानते हैं। थाइलैण्ड के एक बन्धु ने तो कहा कि हमारे यहां तो राम की मूर्तियां हैं। राम हमारे लिए तो

पौरुष के देवता के प्रतीक हैं। एक बन्धु ने कहा कि हम तो गंगाजल से अपने सब अनुष्ठान तथा पूजा करते हैं। हमने कहा कि गंगाजल कैसे मिलता है, वह तो भारत में है, प्रयाग में है। तो उन्होंने कहा कि हम अपनी नदी का जल घट में रख लेते हैं और उसके चारों ओर परिक्रमा करके मंत्र पढ़कर गंगाजल बना लेते हैं। आप कल्पना कीजिए कि आपकी एक नदी कहां तक फैली है। वह आपकी संस्कृति का ही प्रतीक है। बृहत्तर भारत में आप देखेंगे कि आपकी संस्कृति किस प्रकार तक व्याप्त है। और जब इस विज्ञान के युग पर विचार करेंगे तो आपको यह देखना पड़ेगा कि इस वैज्ञानिक संस्कृति ने क्या दिया है ? आज यदि आप यह समझते हैं कि बाहर का व्यक्ति सुखी है तो वास्तव में ऐसा नहीं है। वे बहुत सुखी नहीं हैं ! अमरीका से जो विद्यार्थी आते हैं, वे बताते हैं कि उनके यहां इतनी आत्महत्यायें होती हैं, इतने प्राणी यहां विक्षिप्त होते हैं जिसकी सीमा नहीं है और यह बात आप भी जानते होंगे। मैंने कहा कि तुम्हारे यहां सब सुख सुविधा है तो तुम्हें क्या अभाव है ? उस विद्यार्थी ने उत्तर दिया कि भीतर तो हमारे खोखला है, भीतर तो सब शून्य है। हम आपके यहां यह खोजने आते हैं कि जीने के लिए कुछ और भी है। जीने के लिए मनुष्य केवल पशु तो नहीं है। उसे सारी सुख सुविधाएं भी मिल जाएं तो भी उससे ऊंची वह कोई कल्पना रखता है, ऊंचा कोई स्वप्न देखता है, उसका सौंदर्य-बोध दूसरा है, उसका रागात्मक स्पर्श दूसरा है, उसकी भावनाएं दूसरी हैं, उसके विश्वास आस्थाएं दूसरी हैं। यदि वे खंडित हो जाएं तो जीवन खंडित हो जाता है। तो आज के स्नातक को यह सोचना है कि जिनके पास सारी सुख सुविधाएं हैं वे कहते हैं कि वह हमारे जीवन का मूल्य चाहते हैं तो जिसके पास वे मूल्य हैं वे अपने को निर्धन क्यों मानते हैं ?

मैं समझती हूं कि भारत के विद्यार्थी के पास इस युग को उत्तर देने के लिए, इस युग की चुनौती को स्वीकार करने के लिए बहुत बड़ी शक्ति है। यदि वह अपनी आत्मा की शक्ति को किसी प्रकार पहचान ले तो फिर अपने आप सारे मार्ग खुलते चले जाएंगे। आप अपने चारों ओर यह न देखें कि ये सब विघटन है, ये सब विभाजन है। तो हम देखें क्या ? वास्तव में सूर्य की धूप जब बहुत पड़ती है तो आपने देखा होगा कि ग्रीष्म में पृथ्वी

दरक जाती है, उसमें तमाम दरारें पड़ जाती हैं। लेकिन जब एक बदली आकर बरस जाती है तब सारी दरारें मिट जाती हैं, धरती सजल होकर एक हो जाती है। हमारी वह जो मानवता है, मानवीय तत्व है, वह जो स्नेह का तत्व है, जिसने हमारे यहां दो-दो करुणा के महान धर्मों को जन्म दिया। जिस संस्कृति ने इस भारत के पुरुषार्थ को, पौरुष को राम के रूप में उपस्थित किया, जिसने इस भारत की कला को, भावना को कृष्ण के रूप में उपस्थित किया, जिसने इसके निर्वेद को बुद्ध के रूप में उपस्थित किया, उसके पास अनन्त सम्भावनाएं हैं। यहां वह तत्व क्या नहीं बन सकता ? यहां का युवक महान दार्शनिक हो सकता है, वह यहां का राष्ट्रपति होना मैं बड़ी बात नहीं मानती हूं, वह भी हो सकता है, कवि हो सकता है बड़ा दार्शनिक हो सकता है, बड़ा जीवन का उद्भावक हो सकता है, बड़ा कर्मयोगी हो सकता है, क्या नहीं हो सकता ? सब कुछ हो सकता है। यदि उसमें आत्मतेज जग जाए, यदि उसमें वह ज्वाला रहे, जिसका प्रतीक हमारे यहां कभी अग्नि थी, जिस अग्नि को लेकर ब्रह्मचारी आश्रम से बाहर जाता था।

जीवन को तो आपको संयमित करना ही होगा। बिना जीवन को मर्यादित किए, बिना संयमित किए आत्मशक्ति नहीं आती। आप आकाश में देखें, सारी पृथ्वी में हर, अणु में विद्युत है लेकिन उससे एक दिया भी नहीं जला सकेंगे, जब तक आप एक पावर-हाउस में, एक विद्युत केन्द्र में उसे नहीं एकत्र करेंगे, तब तक आप आलोक की सृष्टि नहीं कर सकेंगे और जब आप ऐसा कर लेंगे तो आप पूरे नगर को उद्भासित कर सकते हैं, आलोकित कर सकते हैं। हर दीपक जल जाएगा उससे। इसी प्रकार हृदय की बात भी है। यदि आप अपनी सारी शक्तियों को, अपनी शारीरिक शक्तियों को, आत्मिक शक्तियों को, अपनी आस्था को, विश्वास को अपने में समेट लें और देखें कि आपके पास क्या शक्ति है तो वास्तव में प्रलय के बादल हट जाएंगे, मार्ग की जितनी बड़ी बाधाएं हैं वे भी हट जाएंगी।

जिस युग में हमारा स्वतंत्रता का संग्राम, आरम्भ हुआ था उस युग में आप में से अनेक बहुत छोटे-छोटे होंगे, कुछ का जन्म ही नहीं हुआ होगा। उस समय इससे बहुत अन्धकार था लगता था जब भारत का व्यक्ति अंग्रेज

का नाम सुनते ही कांपने लगता है तो इसको उसके सामने कैसे खड़ा करेंगे ? क्या करेंगे ? लेकिन ऐसा हुआ कि सारे अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो गए हमारी आत्मा की शक्ति के सामने, हमारे नैतिक बल के सामने। हममें से बहुत से तब छोटे-छोटे रहे होंगे लेकिन भय न था—न गोलियों का, न लाठियों का, न किसी भांति का, न किसी प्रकार का। इतनी बड़ी शक्ति थी आत्मा में। यदि आज का स्नातक, आज का विद्यार्थी इस शक्ति को पहचान ले तो समाज का विघटन भी रुक जाएगा, जितनी विषमता है जीवन की वह भी दूर हो जाएगी, एक नया क्षितिज उद्भासित हो जाएगा। यदि वह अपने कर्त्तव्य को न समझे तब पूरा देश बिखर जाएगा। आप स्वयं जानते हैं कि अभी उत्तर-दक्षिण की बात नहीं, हर प्रदेश में जो प्रादेशिकता पनप रही है, भाषा को लेकर लड़ते हैं, साहित्य को लेकर लड़ते हैं, छोटी-छोटी सुविधाओं की बात को लेकर लड़ते हैं, हर प्रान्त में, हर प्रदेश में, उत्तर में दक्षिण में केवल विरोध चल रहा है हमारे बीच। जब तक आप यह व्रत न लें, यह संकल्प न करें कि यह महान राष्ट्र एक रहेगा तब तक जीवन को दृष्टि प्राप्त न हो सकेगी, जीवन में आस्थाएं जागृत न हो सकेंगी।

आप तो इस देश के तारुण्य हैं, आप तो इस देश के बसंत हैं। आपको ही यह संकल्प करना चाहिए कि इन भित्तियों को तोड़ डालेंगे—ये भित्तियां जो भाषा की हैं, धर्म की हैं, जो सम्प्रदायों की हैं और उन सम्प्रदायों में कठिन सम्प्रदाय राजनीति का है। धर्म के सम्प्रदाय से मैं सभीत नहीं होती, किन्तु राजनीति के सम्प्रदाय सभीत कर देते हैं। धर्म के सम्प्रदाय तो किसी आस्था को, कुछ नैतिक मूल्यों को लेकर चलते हैं, उन नैतिक मूल्यों में चाहे वे ईसा ने प्रतिपादित किए हों, चाहे मुहम्मद ने, चाहे शंकराचार्य ने, बहुत कुछ जीवन के तत्व एक से मिल जाते हैं। परन्तु राजनीति में दो व्यक्ति एक से नहीं मिलते। किन्हीं दो राजनीतिज्ञों के सोचने का ढंग एक सा नहीं होता। हमारे एक ओर साम्यवाद है जो आर्थिक धरातल पर समानता की भावना चाहता है, तो हमारे दूसरी ओर पूंजीवाद है जो अर्थ को कुछ विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित करना चाहता है। दोनों मिलकर हमारे बुद्धिजीवी को, हमारे विद्यार्थी को कभी यहां ले जाते हैं, कभी वहां। विद्यार्थी को सब प्रकार की भित्तियों से ऊपर उठना चाहिए। भित्तियां

वास्तव में पृथ्वी पर उठाई जा सकती हैं, आकाश में कौन-सी दीवार उठाई जाती है। यदि आप अपने विचारों को उदार रक्खें, आकाश के समान मुक्त रक्खें तो ये वास्तव में मिट जाएंगी, क्योंकि ये केवल कल्पना है, केवल काल्पनिक भित्तियां हैं।

मनुष्य मात्र सब जगह समान है, सब जगह पीड़ित है, सब जगह अभाव से ग्रस्त है। हमारे यहां कहा गया है सा विद्या या विमुक्तये। वह विद्या है जो मुक्ति के लिए है और मुक्ति किसी व्यक्ति की नहीं है। यह मुक्ति बुद्धि की मुक्ति है, हृदय की मुक्ति है, विचारों की मुक्ति है। यह मुक्ति उछृंखलता नहीं हैं। निर्माण के लिए जो मुक्ति चाहिए वही यह मुक्ति है। उस मुक्ति की कामना करें।

और वास्तव में आपका पथ प्रशस्त है। आप इसकी चिंता न करें। भविष्य तो उज्ज्वल है ही, यदि आप अपने नैतिक बल को एकत्र कर लें।

आज के अवसर पर मैं अधिक आपसे क्या कहूं ? आपके जो शिक्षक हैं उनसे भी कहना चाहूंगी कि वे इतना वात्सल्य दें कि आपके सारे अभाव भर जाएं, इतना स्नेह दें इस पीढ़ी को कि ये उसमें बंध जाएं। बंधन तो हृदय का बंधन है, बंधन तो भावना का बंधन है। और कोई बड़ा बंधन मनुष्य को नहीं बांधता, और सारी जंजीरें मनुष्य तोड़-फोड़ दे, लेकिन बड़ी रेशमी कोमल जान पड़ने वाली स्नेह की जंजीरें वह नहीं तोड़ पाता। उसी से आप उसे बांधें। आपका शिक्षक, आपका आचार्य आपको उसी प्रकार से बांधें और आप श्रद्धा से, स्नेह से, उसी प्रकार बंधें। यदि यह बंधन किसी तरह सफल हो सके तो इस देश का भविष्य कभी अंधकारमय नहीं हो सकता। अन्धकार में मेरा विश्वास नहीं है। अन्धकार होता तो बहुत है। अन्धकार विस्तार में तो होता है परन्तु उससे एक दीपक भी संघर्ष कर सकता है। एक छोटे से दीपक को भी अंधेरा नहीं निगल पाता, इसलिए अन्धकार की चिंता न करें। आपकी दृष्टि में ऐसा आलोक होना चाहिए कि आप उस पथ को आलोकित कर सकें, प्रशस्त कर सकें।

आपने अभी प्राचार्य से सुना, मातृ देवो भव, पितृ देवो भव। मैं इसमें एक कड़ी और जोड़ूंगी और कहूंगी—मातृभूमि देवोभव। यह मातृभूमि भी आपकी देवता हो। आज के युग में देवता आपको चाहिए। यदि आप

चाहते हैं कि इस सुन्दर देश को, इस महान संस्कृति को आप सुरक्षित रक्खें, आपको देखकर कोई कहे कि यह भारतीय है, कोई माने कि जीवन के मूल्य इसके पास हैं तो आप बहुत बड़ा कार्य करेंगे। विज्ञान उपयोग में आ सके यह मनुष्य के लिए बड़ी बात है। विज्ञान के पास शक्ति है, किन्तु अंध-शक्ति है। वह कहां मनुष्य को ले जाएगा, कहा नहीं जा सकता ? आज वह निर्माण भी कर सकता है, ध्वंस भी कर सकता है। अणु से उसने अस्त्र-शस्त्र भी बना लिए हैं। वही अणु जो भयंकर रोगों की चिकित्सा कर सकता है, सम्पूर्ण देश को नष्ट भी कर सकता है। वही हिरोशिमा का विध्वंस कर सकता है। नागासाकी का यह हाल कर सकता है। और वही बड़े गम्भीर रोगों की चिकित्सा भी कर सकता है। तो विज्ञान मनुष्य की सद्भावना से अनुशासित रहे। मनुष्य की शक्ति का प्रदर्शन न बने। आप यह तभी कर सकेंगे जब हृदय से, बुद्धि से समन्वयवादी हो जाएं, इतने सहृदय हो जाएं। तब विज्ञान की सारी शक्तियां आपको दिशा देंगी और कल्याण की ओर ले जाएंगी।

संस्कृति का प्रश्न

दीर्घनिकाय में मनुष्य के क्रमशः उन्नति और अवनति की ओर जाने के सम्बन्ध में कहा हुआ यह वाक्य आज की स्थिति से विचित्र साम्य रखता है :

"उन लोगों में एक-दूसरे के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा। माता में पुत्र के प्रति, पुत्र में माता के प्रति, भाई में बहिन के प्रति, बहिन में भाई के प्रति, भाई में भाई के प्रति तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होगा; जैसे मृग को देखकर व्याध में तीव्र क्रोध, तीव्र प्रतिहिंसा, तीव्र दुर्भावना और तीव्र हिंसा का भाव उत्पन्न होता है। वे एक दूसरे को मृग समझने लगेंगे। उनके हाथों में पैने शस्त्र होंगे। वे उन तीक्ष्ण शस्त्रों से एक दूसरे को नष्ट करेंगे। तब उन सत्त्वों में कुछ सोचेंगे 'न मुझे औरों से काम न औरों को मुझसे काम। अतः चलकर घने तृण-वन-वृक्षों में या नदी के दुर्गम तट पर या ऊंचे पर्वत पर वन के फल-फूल खाकर रहा जावे।' फिर वे घने तृण-वृक्षों में या नदी के दुर्गम तट पर या ऊंचे पर्वत पर वन के फल-मूल खाकर रहेंगे। एक सप्ताह वहां रहने के पश्चात् वे घने से निकलकर एक दूसरे का आलिंगन कर एक दूसरे के के प्रति शुभकामनाएं प्रकट करेंगे। (चकवत्ति सिंहनाद सुत्त 3।3)

उपर्युक्त कथन के प्रथम अंश की सत्यता तो हमारे जीवन में साधारण हो गई है; परन्तु दूसरे अंश की सत्यता का अनुभव करने के लिए संभवतः हमें इससे कठिन अग्नि-परीक्षा पार करनी होगी।

आज जब शस्त्रों की झंझनाहट में जीवन का संगीत विलीन हो चुका है, विद्वेष की काली छाया में विकास का पथ खोता जा रहा है, तब संस्कृति की चर्चा व्यंग्य जैसी लगे तो आश्चर्य नहीं। परन्तु जीवन के साधारण नियम में विश्वास रखने वाला यह जानता है कि सघन बादल भी आकाश

बन जाने की क्षमता नहीं रखता, वज्रपात का कठोर से कठोर शब्द भी स्थायी हो जाने की शक्ति नहीं रखता। जब मनुष्य का आत्मघाती आवेश शान्त हो जावेगा, तब जीवन के विकास के लिए सृजनशील तत्त्वों की खोज में, सांस्कृतिक चेतना और उसकी अभिव्यक्ति के विविध रूप महत्त्वपूर्ण सिद्ध होंगे।

संस्कृति की विविध परिभाषाएं सम्भव हो सकी हैं, क्योंकि वह विकास का एक रूप नहीं, विभिन्न रूपों की ऐसी समन्वयात्मक समष्टि है, जिसमें एक रूप स्वतः पूर्ण होकर भी अपनी सार्थकता के लिए दूसरे का सापेक्ष है।

एक व्यक्ति को पूर्णतया जानने के लिए जैसे उसके रूप, रंग, आकार, बोलचाल, विचार, आचरण आदि से परिचित हो जाना आवश्यक हो जाता है, वैसे ही किसी जाति की संस्कृति को मूलतः समझने के लिए उसके विकास की सभी दिशाओं का ज्ञान अनिवार्य है। किसी मनुष्य-समूह के साहित्य, कला, दर्शन आदि के संचित ज्ञान और भाव का ऐश्वर्य ही उसकी संस्कृति का परिचायक नहीं, उस समूह के प्रत्येक व्यक्ति का साधारण शिष्टाचार भी उसका परिचय देने में समर्थ है।

यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि संस्कृति जीवन के बाह्य और आंतरिक संस्कार का क्रम ही तो है और इस दृष्टि से उसे जीवन को सब ओर से स्पर्श करना ही होगा। इसके अतिरिक्त वह निर्माण ही नहीं, निर्मित तत्त्वों की खोज भी है। भौतिक तत्त्व में मनुष्य प्राणि तत्त्व को खोजता है, प्राणि तत्त्व में मनस्तत्त्व को खोजता है और मनस्तत्त्व में तर्क तथा नीति को खोज निकालता है, जो उसके जीवन को समष्टि में सार्थकता और व्यापकता देते हैं। इस प्रकार विकास-पथ में मनुष्य का प्रत्येक पग अपने आगे सृजन की निरन्तरता और पीछे अथक अन्वेषण छिपाए हुए है।

साधारणतः एक देश की संस्कृति अपनी बाह्य रूप-रेखा में दूसरे देश की संस्कृति से भिन्न जान पड़ती है। यह भिन्नता उनके देश-काल की विशेषता, बाह्य जीवन, उनकी विशेष आवश्यकताएं तथा उनकी पूर्ति के लिए प्राप्त विशेष साधन आदि पर निर्भर है; आन्तरिक प्रेरणाओं पर नहीं। बाहर की विभिन्नताओं को पार कर यदि हम मनुष्य की संस्कार-

चेतना की परीक्षा करें, तो दूर-दूर बसे मानव-समूहों में आश्चर्यजनक साम्य मिलेगा। जीवन के विकास सम्बन्धी प्रश्नों के सुलझाने की विधि में अन्तर है; परन्तु उन प्रश्नों को जन्म देने वाली अन्तःचेतना में अन्तर नहीं।

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि जब अनेक प्राचीन संस्कृतियां लुप्त हो चुकी हैं और अनेक नाश के निकट जा रही हैं, तब संस्कृति को विकास का क्रम क्यों माना जावे !

उत्तर सहज है—निरन्तर प्रवाह का नाम नदी है। जब शिलाओं से घेरकर उसका बहना रोक दिया गया, तब उसे हम चाहे पोखर कहें चाहे झील, किन्तु नदी के नाम पर उसका कोई अधिकार नहीं रहा।

संस्कृति के सम्बन्ध में यह और भी अधिक सत्य है, क्योंकि वह ऐसी नदी है जिसकी गति अनन्त है। वह विशेष देश, काल, जलवायु में विकसित मानव-समूह की व्यक्त और अव्यक्त प्रवृत्तियों का परिष्कार करती है और उस परिष्कार से उत्पन्न विशेषताओं को सुरक्षित रखती है।

इस परिष्कार का क्रम अबाध और निरन्तर है, क्योंकि मनुष्य की प्रवृत्तियां चिरंतन हैं; पर मनुष्य अजर-अमर नहीं। एक पीढ़ी जब अतीत के कुहरे में छिप जाती है, तब दूसरी उसका स्थान ग्रहण करने के लिए आलोक-पथ में आती है। यह नवीन पीढ़ी मानव-सामान्य अन्तश्चेतना की अधिकारी भी होती है और अपने पूर्ववर्त्तियों की विशेषताओं की उत्तराधिकारी भी; परन्तु इन सबका उपयोग उसे बदली हुई परिस्थितियों में भी करना पड़ता है। अनायास प्राप्त वैभव का ज्ञान यदि उसे गर्व से विक्षिप्त बना देता है तो उसका गन्तव्य ही खो जाता है, और यदि एक निश्चिन्त शिथिलता उत्पन्न कर देता है तो उसकी यात्रा ही समाप्त हो जाती है। महान और विकसित संस्कृतियां इसलिए नहीं नष्ट हो गई कि उनमें स्वभावतः क्षय के कीटाणु छिपे हुए थे, वरन् अशरीरी होते-होते इसलिए विलीन हो गईं कि उनकी प्राण-प्रतिष्ठा के लिए जीवन कोई आधार ही नहीं दे सका। प्रकृति के अणु-अणु के सम्बन्ध में मितव्ययी मनुष्य ने अन्य मनुष्यों के असीम परिश्रम से अर्जित ज्ञान का कैसा अपव्यय किया है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

भारतीय संस्कृति का प्रश्न अन्य संस्कृतियों से कुछ भिन्न है, क्योंकि वह अतीत की वैभव-कथा ही नहीं, वर्तमान की करुण गाथा भी है। उसकी विविधता प्रत्येक अध्ययनशील व्यक्ति को कुछ उलझन में डाल देती है। संस्कृति विकास के विविध रूपों की समन्वयात्मक समष्टि है और भारतीय संस्कृति विविध संस्कृतियों की समन्वयात्मक समष्टि है। इस प्रकार इसके मूल तत्त्व समझने के लिए हमें अत्यधिक उदार, निष्पक्ष और व्यापक दृष्टि-कोण की आवश्यकता रहती है।

परिवर्तनशील परिस्थितियों के बीच में जीवन को विकास की ओर ले जाने वाली किसी भी संस्कृति में आदि से अन्त तक एक विचारधारा का प्राधान्य स्वाभाविक नहीं। फिर भारतीय संस्कृति तो शताब्दियों को छोड़ सहस्राब्दियों तक व्याप्त तथा एक कोने में सीमित न रहकर बहुत विस्तृत भू-भाग तक फैली हुई है। उसमें एक सीमा से दूसरी तक, आदि से अन्त तक एक ही धारा की प्रधानता या जीवन का एक ही रूप मिलता रहे, ऐसी आशा करना जीवन को जड़ मान लेना है। भारतीय संस्कृति निश्चित पथ से काट-छांटकर निकाली हुई नहर नहीं, वह तो अनेक स्रोतों को साथ ले अपना तट बनाती और पथ निश्चित करती हुई बहने वाली स्रोतस्विनी है। उसे अंधकार भरे गर्तों में उतरना पड़ा है, ढालों पर बिछलना पड़ा है, पर्वत जैसी बाधाओं की परिक्रमा कर मार्ग बनाना पड़ा है; पर इस लम्बे क्रम में उसने अपनी समन्वयात्मक शक्ति के कारण अपनी मूल धारा नहीं सूखने दी। उसका पथ विषम और टेढ़ा-मेढ़ा रहा है, इसी से एक घुमाव पर खड़े होकर हम शेष प्रवाह को अपनी दृष्टि से ओझल कर सकते हैं; परन्तु हमारे अनदेखा कर देने से ही वह अविच्छिन्न प्रवाह खंड-खंड में नहीं बंट जाता।

जीवन की मूल चेतना से उत्पन्न ज्ञान और कर्म की दो प्रमुख धाराएं भिन्न-भिन्न दिशाओं में विकास पाते रहने पर भी ऐसी समीप हैं कि एक के साध्य बन जाने पर दूसरी साधन बनकर उसके निकट ही रहती है। कभी इनमें से एक की प्रधानता और कभी दूसरी की और कभी दोनों का समन्वय हमारे जीवन को विविधता देता रहता है। अनेक सिद्धान्त, हमारे जीवन के समान ही पुराने हैं। उदाहरण के लिए हम वर्तमान युग की

अहिंसा को ले सकते हैं, जिससे पिछले अनेक वर्षों से हमारे राष्ट्रीय जागरण को विशेष नैतिक बल मिलता आ रहा है। एक बड़े संघर्ष और निराशा के युग के उपरान्त वैष्णव धर्म ने भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया था। उसके पहले महाभारत काल का अनुसरण करने वाले युग में बुद्ध ने भी। इस सिद्धान्त का मूल हमें उपनिषद् ही नहीं वेद के 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' में भी मिलता है। यज्ञ के लिए हिंसा के अनुमोदकों के साथ-साथ हमें अहिंसा के समर्थकों का स्वर भी सुनाई पड़ता है। ब्राह्मण काल में इन दोनों विचारधाराओं की रेखाएं कुछ-कुछ स्पष्ट होने लगती हैं और यज्ञ धर्म से आत्म-विद्या को उच्च स्थान देने वाले उपनिषद् काल में वे निश्चित रूप पा लेती हैं। अन्य विचारधाराओं के सम्बन्ध में भी ऐतिहासिक अनुसंधान कुछ कम ज्ञानवर्द्धक न होगा।

बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म के साथ भारतीय संस्कृति में एक ऐसा पट-परिवर्तन होता है, जिसने हमारे ज़ीवन की सब दिशाओं पर अपना अमिट प्रभाव छोड़ा और दूसरे देशों की संस्कृति को भी विकास की नई दिशा दी। उसमें और वैदिक संस्कृति में विशेष अन्तर है। वैदिक संस्कृति हमारी संस्कृति का उपक्रम न होकर किसी विशाल संस्कृति का अन्तिम चरण है और बौद्ध संस्कृति विषम परिस्थितियों के भार से दबे जीवन का सम्पूर्ण प्राण-प्रवेग है, जिसने सभी बाधाएं तोड़कर बाहर आने का मार्ग पा लिया। एक में शक्ति का गर्व है, सृजन का ओज है; पर अपनी भूलों के ज्ञान से उत्पन्न नम्रता नहीं है, दूसरों की दुर्बलता के प्रति संवेदना नहीं है। दूसरी में मनुष्य की दुर्बलता के परिचय से उत्पन्न सहानुभूति है, जीवन के दुःख-बोध जनित करुणा है; परन्तु शक्ति का प्रदर्शन नहीं है, निर्माण का अहंकार नहीं है।

जो नरक भारतीय जीवन का सत्य बन चुका है, ऋग्वेद का ऋषि उस का नाम-पता नहीं जानता। जिस नारी की कल्पना मात्र से भारतीय साधक कम्पित होते रहे हैं, ऋग्वेद के पुरुष को उससे कोई भय नहीं है। जिस दुःखवाद ने भारतीय जीवन को इतना घेर रखा है, ऋग्वेद का मनीषी उस के सम्बन्ध में कुछ कहता सुनता नहीं। इसके विपरीत बौद्ध संस्कृति का मनुष्य, रामायण काल की सतर्क परिणति और महाभारत के संघर्ष का

उपसंहार पार कर आया है; दुःख, असफलता, पराजय आदि से विशेष परिचित हो चुका है और जीवन के अनेक कटु अनुभवों से बुद्धिमान बन चुका है।

इसी से वैदिक संस्कृति अपनी यथार्थता में भी आदर्श के निकट है और बौद्ध संस्कृति अपनी बौद्धिकता में भी अधिक यथार्थोन्मुखी है। एक प्रवृत्ति प्रधान और दूसरी अपरिग्रही है; परन्तु दोनों विकास की ओर गतिशील हैं। आज की परिस्थितियों में अपने जीवन को स्वस्थ गति देने के लिए सांस्कृतिक विकास के मूल तत्त्वों को समझना ही पर्याप्त न होगा। उनकी समन्वयात्मक शक्ति को ग्रहण करना भी आवश्यक है।

संस्कृति के सम्बन्ध में हमारी ऐसी धारणा बन गई है कि वह निरंतर निर्माण-क्रम नहीं, पूर्ण निर्मित वस्तु है, इसी से हम उसे अपने जीवन के लिए कठोर साथी बना लेते हैं। इस भ्रांति ने हमें जीवन के मूल तत्त्वों को नवीन परिस्थितियों के साथ किसी सामंजस्य पूर्ण सम्बन्ध में रखने की प्रेरणा ही नहीं दी। हम तो अतीत के ऐसे कृपण उत्तराधिकारी हैं, जो उन में से कुछ भी अपने ऊपर व्यय नहीं कर सकता और सतर्क पहरेदार बना रहने में ही कर्त्तव्य की पूर्ति मानता है।

जीवन जैसे आदि से अन्त तक निरन्तर सृजन है, वैसे ही संस्कृति भी निरन्तर संस्कार क्रम है। विचार, ज्ञान, अनुभव, कर्म आदि सभी क्षेत्रों में जब तक हमारा सृजन-क्रम चलता रहता है, तब तक हम जीवित हैं। 'जीवन पूर्ण हो गया' का अर्थ उसका समाप्त हो जाना है। संस्कृति के संबंध में भी यही बात सत्य है। परन्तु विकास की किसी स्थिति में भी जैसे शरीर और अन्तर्जगत के मूल तत्त्व नहीं बदलते, उसी प्रकार संस्कृति के मूल तत्त्वों का बदलना भी सम्भव नहीं।

आज की सर्वग्रासी परिस्थिति में यदि हम अपने जीवन का क्रम अटूट रखना चाहें, तो अपनी सांस्कृतिक चेतना को मूलतः समझना और उसकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति को सुरक्षित रखना उचित होगा। सैकड़ों फीट नीचे भू-गर्भ में, गहरी गुफाओं में या ऊंची-ऊंची शिलाओं में मिले हुए अतीत वैभव तक ही हमारी संस्कृति सीमित नहीं, वह प्रत्येक भारतीय के हृदय में भी स्थापित है। हमारी खोज किसी मृत जाति के जीवन-चिह्नों की खोज नहीं, जीवित उत्तराधिकारी के लिए उसके पैतृक धन की खोज है और यह उत्तराधिकारी प्रत्येक झोंपड़े के कोने में उसे पाने को उत्कंठित बैठा है।

भारतीय संस्कृति की पृष्ठभूमि

भारत की सांस्कृतिक उपलब्धियां उसी का दायभाग नहीं, वे मानव जाति का भी उत्तराधिकार हैं। अतः जिस प्राकृतिक परिवेश में ये प्राप्त हो सकीं, उसके प्रति तीव्र जिज्ञासा स्वाभाविक है।

पृथ्वी, पर्वत, नदी, वन, समुद्र आदि का संघात है और इस संघात के प्रत्येक रूप को वेदकालीन मनीषा ने इतनी सजीव चित्रमयता दी है कि हमें वे परिचित ही नहीं आत्मीय जान पड़ते हैं।

हमारे और हमारे वेदकालीन पूर्वजों के बीच में समय का पाट कितना विस्तृत है, यह विभिन्न अनुमानों का विषय रहा है। विदेशी शोधकर्ता अपने पूर्वाग्रह के कारण इसे 3500 वर्ष से दूर नहीं ले जा सके, क्योंकि बाइबिल के अनुसार सृष्टि रचना की अवधि ही 7500 वर्ष के लगभग है।

अपने देश में अपौरुषेय कहकर वेदवाङ्मय सम्बन्धी जिज्ञासा ही कुंठित कर दी गई। इतना ही नहीं उसे ऐसी अद्‌भुत पवित्रता से आच्छादित कर दिया, जो दूसरों को पवित्र करने के स्थान में स्वयं अपवित्र हो सकती थी। अतः हर क्षण उसकी पवित्रता की रक्षा में सन्नद्ध प्रहरियों ने उसे असूर्यपश्य बना डाला। जब विदेशियों ने इस लक्ष्मण रेखा को पार कर लिया, तब कुछ भारतीय विद्वानों ने भी साहस किया।

जिन्होंने विदेशियों का अन्धानुकरण मात्र न करके वेदवाङ्मय के सम्बन्ध में अपने स्वतन्त्र मत की, तर्कसरणि द्वारा स्थापना की है, उनमें लोकमान्य तिलक प्रमुख हैं। वे खगोल ज्योतिष के सिद्धान्तों के आधार पर वेदवाङ्मय, ब्राह्मण ग्रन्थ आदि के रचना काल के विषय में किन्हीं निष्कर्षों तक पहुंचे हैं।

ब्राह्मण ग्रंथों के निर्माण-काल में कृत्तिका नक्षत्र प्रथम माना जाता था और उसी में दिन-रात बराबर होते थे। आजकल सूर्य के अश्विनी नक्षत्र

में रहने पर यह स्थिति होती है। इस परिवर्तन के लिए 4500 वर्षों का दीर्घ समय लगा होगा।

वेदों के रचना-काल में मृगशिरा नक्षत्र ही प्राथमिकता पाता था और सूर्य के इसी नक्षत्र में रहने पर दिन रात बराबर होते थे। मृगशिरा ही में वसन्त सम्पात होता था, परन्तु यह स्थिति 6500 वर्ष पूर्व ही सम्भव थी। इसी प्रकार के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर कुछ मन्त्रों का समय 19000 वर्ष पूर्व तक पहुंच गया है।

भूगर्भ-शास्त्र के अनुसार पृथ्वी, पर्वत, समुद्र आदि के परिवर्तन के आधार पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त हो सके हैं।

ऋग्वेद में पूर्व पश्चिम समुद्रों का भी उल्लेख मिलता है और चार समुद्रों का भी।

उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः।

(ऋक्० 10-136-5)

(मुनि) दोनों समुद्रों के पास जाते हैं—एक वह जो पूर्व में है और दूसरा वह जो पश्चिम में है।

रायः समुद्रां श्चतुरोऽसमभ्यं सोम विश्वतः।
आपवस्य सहस्रिणः।

(ऋक्० 9-33-6)

हे सोम ! समृद्धि से पूर्ण चारों समुद्र और सहस्रों कामनायें हमें प्रदान करो।

केवल समुद्र का उल्लेख भी अनेक सूक्तों में अनेक बार आया है। सौ अरित्र (डांड) वाली नावों के वर्णन भी कम नहीं।

य ईङ्खयन्ति पर्वतान तिरः समुद्रमर्णवम्।
मरुद्भिरग्न आ गहि।
आ ये तन्वन्तिरश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा
मरुद्भिरग्न आ गहि

(ऋक्० 1-19-7-8)

हे अग्ने ! बादलों का संचालन करने वाले और जल को समुद्र में गिराने वाले मरुतों के साथ आइए। हे अग्ने ! सूर्य किरणों के साथ सर्वत्र

व्याप्त और समुद्र को अपने बल से आन्दोलित करने वाले मरुतों के साथ आइए।

अनारम्भणे तदवीरयेथामनास्थाने अग्रभणे समुद्रे
यदश्विना ऊहथुर्भुज्युमस्तं शतारित्रा नावमातस्थिवांसम्।
(ऋक्० 1-116-5)

हे अश्विद्वय ! निराधार समुद्र में पड़े हुए भुज्यु को तुमने सौ डांडों वाली नाव सहित गृह पहुंचा दिया। यह तुम्हारा पराक्रम है।

ऋग्वेदिक काल के चार समुद्रों में से, उत्तरी समुद्र की स्थिति, हिमालय के उपरान्त वाह्लीक और फारस के उत्तरी भाग से तुर्किस्तान के ऊपर पश्चिम तक रही होगी, जिसके अवशेष रूप में कृष्णसागर, कश्यपह्रद, अराल और वल्काशह्रद् आदि की स्थिति है। समुद्र के उत्तर की भूमि ध्रुवप्रदेश तक फैली होगी।

दक्षिण समुद्र के अवशेष राजपूताने की सांभर झील और मरुप्रदेश में मिलते हैं। पश्चिमीय समुद्र अरब सागर से मिला होगा और पूर्वीय समुद्र की स्थिति हिमालय की तलहटी से लेकर आसाम तक रही होगी।

जिस प्राकृतिक कारण से हिमालय का जन्म हुआ, उसी से समुद्र भी हटे होंगे। फिर उसी क्रम से अधिक जल लाने वाली नदियों की यात्रा दीर्घ हो गई होगी और कम जल वाली सिकता में खो गई होगी।

भूगर्भवेत्ताओं के अनुसार इस प्रकार के परिवर्तन में 25000 वर्ष से लेकर 75000 वर्ष तक लग सकते हैं। ऐसी स्थिति में वैदिक साहित्य के निर्माण काल के सम्बन्ध में "न इति न इति" कहना ही उचित होगा। समय सागर का यह अमाप विस्तार तब हमें विस्मय के चरम बिन्दु तक पहुंचा देता है, जब हम अनुभव करते हैं कि इसकी हर लहर हमारी चिर परिचित है।

भौगोलिक रूपान्तरों ने भारत भूमि की तात्विक एकता को खण्डित नहीं किया है, इसी से वर्तमान प्राकृतिक रूप अतीत रूपों से उसी प्रकार सम्बद्ध है, जिस प्रकार हम अपने पूर्वजों से।

हिमालय के लिए हिमवत नाम ऋग्वेद और अथर्व में अनेक बार आया है। मूजवत पर्वत का जो उल्लेख ऋग्वेद, अथर्व, शतपथ ब्राह्मण

आदि में मिलता है, उससे ज्ञात होता है कि वह गान्धार प्रदेश में स्थिति रखता था और उसके उत्तर रुद्र का स्थान था। महाभारत ने—

गिरे हिमवन्तः पृष्ठे मुंजवान नाम पर्वतः।
तप्यते तत्र भगवान तपो नित्यमुमापतिः।

कह कर इसे स्मरण किया है।

तैत्तरीय आरण्यक में तीन पर्वतों का उल्लेख है :

सुदर्शने क्रौञ्चे मैनागे महागिरौ।

पुराणों तथा महाभारत के अनुसार मैनाक कैलाश से उत्तर है और इसके निकट विन्दुसागर सरोवर गंगा का उद्गम स्थल है।

वृहत्संहिता के अनुसार क्रौंच पर्वत मानसरोवर और कैलाश से दक्षिण है और इसी के रन्ध्र या दर्रे से हंस मानसरोवर पहुंचते हैं।

हिमालय की तीन श्रेणियां बाहुओं के समान पूर्व और पश्चिम छोरों तक फैली हुई हैं। बाहरी शृंखला में शिवालिक की श्रेणियां हैं, दूसरी में कश्मीर, कांगड़ा, कूर्मांचल आदि हैं और फिर महा हिमवन्त की श्रेणी में नन्दा देवी, त्रिशूली, गौरी शंकर आदि उन्नत शिखर हैं। इसी श्रेणी में तुंगनाथ, बदरी, केदार आदि की स्थिति है। वहीं कुबेर की अलकापुरी बसी है। वदरिकाश्रम के पास ही गन्धमादन पर्वत है, जिसे महाभारतकार ने अतिपरिचित बना दिया है। इस श्रेणी में 18000 से लेकर 30,000 फुट तक ऊंचे हिमावृत शिखर हैं। पूर्व की श्रेणियों में लोहित क्षेत्र और ब्रह्मपुत्र की घाटी है। पश्चिमी सीमान्त के कृष्णगिरि (सुलेमान) और शर्यणावत क्षेत्र का ज्ञान भी ऋग्वेद के ऋषि को था।

संसार के किसी पर्वत की जीवन कथा इतनी रहस्यमयी न होगी, जितनी हिमालय की है। उसकी हर चोटी, हर घाटी हमारे धर्म, दर्शन, काव्य से ही नहीं, हमारे जीवन के संपूर्ण निःश्रेयस् से जुड़ी हुई है।

जिस प्रकार गंगा-यमुना और अन्तःसलिला सरस्वती के बिना हमारे महादेश के सजल पर रहस्यमय हृदय की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार अभ्रंकष हिमालय के बिना देश के उन्नत मस्तक की कल्पना संभव नहीं है।

संसार के किसी अन्य पर्वत को मानव की संस्कृति, काव्य, दर्शन, धर्म

आदि के निर्माण में ऐसा महत्व नहीं मिला है, जैसा हमारे हिमालय को प्राप्त है। वह मानो भारत की संश्लिष्ट विशेषताओं का ऐसा अखण्ड विग्रह है, जिस पर काल कोई खरोंच नहीं लगा सका।

वस्तुतः हिमालय भारतीय संस्कृति के हर नए चरण का पुरातन साथी रहा है। भारतीय जीवन उसकी उजली छाया में पल कर सुन्दर हुआ है, उसकी शुभ्र ऊंचाई छूने के लिए उन्नत बना है और उसके हृदय से प्रवाहित नदियों में धुलकर निखरा है।

प्राकृतिक परिवेश में परिवर्तन स्वाभाविक ही रहते हैं। जहां अतीत काल में गम्भीर वेगवती नदियां थीं, वहां जलते ताम्रपत्र जैसा दृष्टि को झुलसा देने वाला मरु का विस्तार है, जहां अतल समुद्र था वहां सम-विषम समतल गर्त निकल आए हैं। ऋतुएं बदल गईं, वनस्पतियों में परिवर्तन हो गया है और ग्रह नक्षत्रों की गति में अन्तर आ गया है। परन्तु वैदिक युग से अद्युनातन युग तक हिमालय से भारतीय ज़ीवन का रागात्मक सम्बन्ध उत्तरोत्तर गहरा ही होता रहा है। यह गहराई इस सीमा तक पहुंच गई है कि हिमालय को कभी न देख पाने वाला भी उससे दूरी का अनुभव नहीं करता।

जीवन के अतल समुद्र से अपनी विशिष्ट मेघा के साथ उठने वाले वैदिक मानव के समान ही, पृथ्वी के किसी कम्पन के कारण जल राशि से हिमालय भी ऊपर उठा होगा। पृथ्वी और पर्वत दोनों में वह विस्फोट-जनित कम्पन कुछ समय शेष रहा होगा, इसी से ऋषि कहते है :

य: पृथिवीं व्यथमानामदृंदृद: पर्वतान्प्रकुपितां अरम्णात।
यो अन्तरिक्षं विममेवरीयो यो द्यामस्तम्नात्स जानस इन्द्र ।।

(ऋक्० 2-12-2)

जिसने व्यथित (हिलती हुई) पृथ्वी को दृढ़ किया, जिसने क्षुब्ध पर्वतों को शांत किया, जिसने विस्तृत अन्तरिक्ष को फैलाया और जिसने आकाश को स्थिर किया, हे जनो ! वह इन्द्र है। पर्वतों के पंखों की पौराणिक कथा के मूल में भी यही कम्पन रहा होगा।

किसी भी देश के मानव-समूह के पास वैदिक वाङ्मय के समान प्राचीन और समृद्ध वाङ्मय नहीं है। इतना ही नहीं, किसी भी भू-खण्ड

का मानव गर्व के साथ यह घोषणा नहीं कर सका है :

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः —अथर्व०

भूमि माता है। मैं पृथिवी का पुत्र हूं।

आश्चर्य नहीं कि इस प्रकार कहने वाले को पर्वत, वन, नदी आदि सहोदर सहोदराएं जान पड़ें।

गिरयस्ते पवतः हिमवन्तोऽरण्यंते पृथिवी स्योनमस्तु

—अथर्व०

(हे पृथ्वी) तेरे पर्वत, तेरे हिमावृत शल्य, तेरे अरण्य सुखदायक हों।

धरती का सौन्दर्य, उन्हें इतना प्रिय था कि वे उसे अनन्त काल तक देखते रहने की कामना करते थे।

यावत तेभि पश्याभि भूमे सूर्येण मेदिना।

तावन्मे चक्षुर्मामिष्टोत्तरामुत्तरां समाम्।

—अथर्व०

(हे भूमि ! प्रकाशित सूर्य के साथ जब तक तेरी ओर देखता रहूं, तब तक वर्ष-वर्षान्तर तक मेरी दृष्टि क्षीण न हो।)

आज के वैज्ञानिक युग में, जब मनुष्य पृथ्वी से सब कुछ लेकर भी उसे नष्ट करने के साधन खोजता रहता है, वैदिक मानव की यह भावना विस्मयजनक है।

उदीराणा उत्तासीनास्तिष्ठतः प्रक्रामन्तः।

पदभ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्।

०००

मा ते मर्म विभृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम।

—अथर्व०

उठते हुए, बैठते हुए, खड़े हुए और दक्षिण वाम पैरों से बढ़ते हुए हम भूमि को व्यथा (पीड़ा) न पहुंचाएं। हे पवित्र करने वाली ! मैं तेरे हृदय को आघात न पहुंचाऊं।

परन्तु इतनी भावुकता उन्हें बल से विरक्त नहीं बना देती।

अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्।

मैं अपराजित, अक्षत अमर होकर पृथिवी पर अधिष्ठित रहूं

सानो भूमिस्त्विवर्षिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ।
वह पृथ्वी हमारे सर्वोत्कृष्ट राष्ट्र में ओज और शक्ति उत्पन्न करे।

हिमवंत और भारत भूमि के प्रति इसी गम्भीर अनुराग का संस्कार लेकर युग-युगान्तर तक नवीन पीढ़ियां आती रही हैं। ऋग्वेद के ऋषि का हिमवंत, आदि कवि वाल्मीकि के युग तक पहुंचते-पहुंचते शैलेन्द्र का विशेष व्यक्तित्व पा लेता है। महाभारतकार उसे स्मरण ही नहीं करता, प्रत्युत्, हिंसाजनित विजय से क्षुब्ध पाण्डवों को उसके हिमशीतल अंक में समाधिस्थ कर देता है।

कविगुरु कालिदास के काव्यों में तो हिमालय सुख-दु:ख के अनन्त उच्छ्वासों में स्पन्दित हो उठता है। उससे जन्म पाने वाली पार्वती धरती तपश्चरण द्वारा ही शिव को वरण करके अपराजेय कुमार को जन्म देती है।

तब से आज तक यह शिव के 'राशीभूत अट्टहास-सा' उज्ज्वल पर्वत भारतीय साहित्य, कला आदि का सहचर रहा है। इस पर दृष्टि पड़ते ही कवि के हृदय में अनन्त भावनाओं की घटाएं उमड़ आती हैं और चित्रकारों की आंखों से विविध रंगमय स्वप्न बरस पड़ते हैं। मूर्तिकार को इसमें जीवन की विराटता प्रत्यक्ष हो जाती है, स्वरकार के आरोह-अवरोह इसकी परिक्रमा करने लगते हैं और नृत्यकार इसमें महाकाल के ताण्डव और लास्य की चाप सुन लेता है।

आकाश के इन्द्रनील वितान के नीचे चांदनी को जमा कर बनाए गए से शिखर भारत का ऐसा मुकुट जान पड़ते हैं, जिन पर किरणें केशर के फूलों के समान बरसती रहती हैं।

भारतीय कल्पना ने इस विराट सौन्दर्य में शिवत्व की भावना की और इसकी सहचारिणी की खोज करते-करते ही मानो तीन अतल समुद्रों के मिलन-सीमान्त पर खड़ी कन्याकुमारी को चिरन्तन स्वयंवरा बना दिया है।

यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि विराट अचलता का साथ असीम चंचलता ही दे सकती है, और अनन्त कोलाहल का उत्तर अनादि स्तब्धता में ही मिल सकता है।

हिमालय को हमने दुर्लंध्य माना है, अलंघ्य नहीं। अनेक वार स्नेह तरल हृदय से हौले पग रखते हुए जिज्ञासु इसे पार कर आए हैं, अनेक बार अस्त्र-शस्त्रों की झंकार से इसकी समाधि तोड़ते हुए दर्पस्फीत अहंकारी शत्रु भी इसके पार आए हैं। जो जिस प्रकार का अतिथि बन कर आया, इस भूमि के निवासियों ने उसकी अभ्यर्थना भी उसी प्रकार के उपकरणों से की। युद्ध में प्रणम्य शत्रु को हमारे प्रणाम भी बाण की नोक पर गए हैं।

मानसरोवर तथा कैलाश को भारतवासी अपने महादेश का पवित्रतम भाग मानता रहा है और प्रत्येक युग में कवियों ने उसके स्मरण से अपने काव्य को पवित्र बनाया है। वह शिव का आवास ही नहीं, जीवन की शिवता का भी प्रतीक है। जैसे-जैसे सप्तसिन्धव: की संस्कृतिवाहिनी आगे बढ़ती गई, अन्य पर्वत भी उसकी आत्मीयता की सीमा में आते गए।

अनेक पौराणिक कथाओं का केन्द्र पुरातन विन्ध्य, राजस्थान का अर्बुद, विन्ध्य के दक्षिण का ऋक्ष (सतपुड़ा की श्रेणियां), शुक्तिमान की पहाड़ियां, दक्षिणपथ के सह्याद्रि, मलय आदि से मानो एक विशाल पर्वत परिवार ही स्थापित हो गया, जिसमें सब मिल कर ही भू-भृत का कर्त्तव्य संभालते हैं।

भारत नदियों की दृष्टि से भी बहुत समृद्ध रहा है। उसकी संस्कृति का आरम्भ और विकास नदियों के तट पर ही हुआ है, अत: उनके प्रति भक्ति-भाव उसकी संस्कृति की विशेषता बन गया है।

वैदिक वांङ्मय में अनेक नदियों के नाम आए हैं, जिनमें कुछ के नामों में परिवर्तन हो गया है और कुछ अब अफगानिस्तान के सीमा क्षेत्र में हैं। परन्तु अधिकांश नदियां हमारी जानी पहचानी ही नहीं, शरीर की रक्तवाहिनी शिराओं के समान, जीवन और संस्कृति की वाहिनी भी हैं।

पुराण तो कई सौ नदियों की सूची देते हैं, परन्तु ऋग्वेद में उल्लिखित नदियों की संख्या भी कम नहीं है। अष्टक ऋषि (विश्वामित्र के पुत्र) सप्त आप के अतिरिक्त अन्य 99 नदियों की चर्चा करते हैं।

नवति नव च स्रोत्या स्रवन्ती।

निन्यानवे बहती हुई नदियां

(ऋक् 10-140-8)

सप्त सिन्धु का उल्लेख अनेक बार हुआ है। तत्कालीन प्रमुख नदियों में गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री (सतलज), परुष्णी (रावी), आस्किनी (चिनाव), वितस्ता (झेलम), अर्जिकाया (व्यास), सिन्धु, सुषोमा, (सौहान), मरुद्वृधा, तृष्टामा, रसा, श्वेत्या (शोण), कुभा (काबुल), गोमती (गोमल), क्रमु (कुर्रम), मेहत्नु, दृषद्वती की चर्चा बार-बार होती रहती है।

जलवायु के परिवर्तन से उत्पन्न वर्षण-अवर्षण का प्रभाव नदियों पर विशेष रूप से पड़ता है। पृथ्वी के कम्पन से भी इनकी गति और स्थिति में परिवर्तन स्वाभाविक हो जाता है। आज अराल सागर में गिरने वाली नदी पहले कश्यप ह्रद में गिरती थी।

जिस सरस्वती की स्मृति में वैदिक ऋषि की कल्पना सुन्दर छन्द रचना में व्यक्त हुई है, वह पहले राजपूताना में स्थित समुद्र में गिरती थी। जब समुद्र पीछे हटा और पर्याप्त मिट्टी न पड़ सकने के कारण वहां मरु का विस्तारमात्र रह गया, तब वह महानदी तन्वी होते-होते सिकता में खो गई। दृषद्वती सरस्वती के समानान्तर बहते हुए उसी में मिल जाती थी। ये दोनों ही सरिताएं जो यज्ञ का प्रमुख स्थान थीं, कालान्तर में प्राकृतिक कारणों से लुप्त हो गईं। परन्तु संस्कारजन्य स्नेह और श्रद्धा के कारण भारतीय मानस सरस्वती को अन्तःसलिला कह कर और त्रिवेणी में उसकी स्थिति मान कर आज भी प्रसन्न होता है।

क्रमशः प्रसार के कारण जब दक्षिण की नदियां परिचय की सीमा में आ गईं तब से भारतीय जनमानस प्रत्येक संकल्प के अवसर पर संपूर्ण भारतवर्ष का ही स्मरण नहीं करता, वह

गंगे च यमुने चैव गोदावरि सरस्वति।
नर्मदे, सिन्धु, कावेरि जलेऽस्मिन सन्निधि कुरु।

कह कर पवित्र होता है।

प्राकृतिक परिवेश की विविध रंग-रूप-रसमय सजीवता ने एक ओर वैदिक वाङ्मय को स्थूल से सूक्ष्मतर होने वाला अक्षय सौन्दर्य-बोध दिया और दूसरी ओर मानव-जिज्ञासा को प्रत्यक्ष समाधान से गूढ़तम दार्शनिक सरणियों तक अनन्त विस्तार दे डाला।

प्रकृति के सौन्दर्य की निश्चित रेखाओं ने यदि उन पर चेतना का आरोप सहज कर दिया, तो आश्चर्य नहीं। यह आरोप स्थूल सादृश्य से चल कर सूक्ष्मता की उस सीमा तक पहुंच गया, जहां वह सर्ववाद के रूप में विश्वात्मा का प्रतीक बन गया।

नदी, वंन, पर्वत आदि के तथातथ्य चित्रों की पृष्ठभूमि में ऋषि का जो सूक्ष्म निरीक्षण है, वही उसे बाह्य रूपरेखा में अन्तर्निहित सामंजस्य को देखने की क्षमता देता है।

जो वेगवती सिन्धु की स्पष्ट रेखाएं आंकता है, अरण्यानी को चिर-परिचित रूप में छन्दायित करता है, वही उषा, वरुण आदि के अतीन्द्रिय सौन्दर्य का भावन करता है, जीवन और सृष्टि के विषय में गूढ़ जिज्ञासाओं को वाणी देता है।

सिन्धु के लिए ऋषि कहता है :

ऋजीत्येनी रूशती महित्वा परि ज्रयांसि भरते रजांसि।
अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमाश्वा न चित्र वपुषीव दर्शता।
(—ऋक्० 11-75-7)

सिन्धु की गति सरल है। वह श्वेतवर्णा और दीप्तिमती है। वह अहिंसित वेगयुक्त जल को सर्वत्र पहुंचाती है। सिन्धु (वेग में) अश्विनी के समान अद्‌भुत् और (तरंग भंगिमा में) रूपवती स्त्री के समान दर्शनीया है।

इसी प्रकार सरल स्पष्टता से वह अरण्यानी का चित्र आंकता है :

वृषारवाय वदते यदुपावति चिञ्चिक:।
अघाटिभिरिव धावन्नरण्यानि मंहीयते।
(ऋक्० 10-146-2)

इस घने वन में कोई जन्तु बैल के समान शब्द करता है।

कोई ची ची करके मानो उसका उत्तर देता है। ऐसा जान पड़ता है मानो वीणा के भिन्न स्वरों में बोलकर अरण्यानी की महिमा गाते हैं।

दार्शनिक सूक्ष्मता के व्यापक आकाश के नीचे भारतीय जीवन अरण्य-संस्कृति अथवा हलधर पृथ्वीपुत्र की संस्कृति का विकास कर रहा है। यह संस्कृति अपने कर्म-जगत की धरती में बंधी रहे, यह अनिवार्य हो जाता है।

गहन हरित कान्तार, सरिताओं की नील-रजत शिरा-जाल, विस्तृत बहुरंगी समतल, विविध वृक्ष-पशु-पक्षी की संसृति आदि भारतीय मानव के साथ-साथ समय की तरंगो पर झूलते, निखरते चली आ रही हैं।

वैदिक काल के अश्वत्थ (पीपल), शमी (छेकुर), शिशंपा (शीशम, अशोक), शाल्मलि (सेंमर), पलाश (टेसू) आदि अनबोए अनसींचे आज भी ग्रामों की सीमा और नगर-मार्गों के प्रहरी बने हुए हैं।

इक्षु मधु आज भी सुलभ है। यव, व्रीहि, गोधूम आदि धान्यों की हरीतिमा में आज भी धरती का अंचल लहराता है।

पशुओं में गौ, अश्व, मेष, महिष, कुक्कर आदि नित्य परिचित ग्राम पशुओं से लेकर विजनवासी हस्ति, मृग, कृष्णसार, कस्तूरी मृग आदि तक सब इस धरती के पूर्ववत संगी हैं।

इसी प्रकार अनदेखे हंस, क्रोंच, चक्रवाक से लेकर प्रत्यक्ष शुक, शकुनि (काक) आदि विविध पक्षि-जगत से और वृश्चिक सर्प जैसे दंशनप्रिय जन्तुओं से हमारे जीवन का चिर परिचय है।

दादुर वैदिक ऋषि को ही वेदपाठियों का स्मरण नहीं कराता था, आज भी नदी पोखरों में उसकी स्वर लहरी उठती गिरती रहती है।

गो के प्रति भारतीय की जो संस्कार-जन्य-श्रद्धा है, उसका अंकुर ऋग्वेद के प्रसिद्ध गो सूक्त में खोजा जा सकता है।

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥

(ऋक्० 6-28-1)

गौयें हमारे गृह आएं, हमारा मगल साधन करें। वे हमारे गोष्ठ (गोशाला) में विराजें। हमें आनन्द दें। वे प्रजावती हों। विविध सुन्दर वर्णवाली गायें ऊषा काल में इन्द्र के लिए दुग्ध प्रदान करें।

ऋषि इस उपयोगी पशु की पूजा करके कर्त्तव्य समाप्त नहीं कर देता, वरन् उसके सुखपूर्वक जीवन की भी व्यवस्था करता है।

प्रजावती सूयवसं रिशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिवन्ती।
मा वः स्तेन ईशत माघशंसः परि वो हेती रुद्रस्य वृज्याः॥

(ऋक्० 6-28-7)

हे प्रजावती गौओ, तुम शोभन जौ (तृण) का भक्षण करो। सुन्दर प्रपानक (जलाशयों) में निर्मल जल पियो। तुम्हें तस्कर कष्ट न पहुंचाएं, हिंसक पशु आक्रमण न करें। चोट पहुंचानेवाले आयुध तुम्हें स्पर्श न करें।

गौ को अदिति (आदित्यों की माता) स्वरूप मानकर उसे अन्धया (अवध्य) कहा गया है।

गां मा हिंसीरदिर्ति विराजम् —अदिति रूप गो की हिंसा मत करो। गो-घातक प्राणदण्ड का भागी होता था।

उपयोगितावाद और दार्शनीयता की दृष्टि से अश्व का जो उत्कर्ष हुआ था, वह भी विविध और विस्मयजनक है। वह न केवल त्वरा और ओज का ही प्रतीक है, वरन् प्रकृति के रौद्र, चंचल और शान्त संयमित दोनों रूपों का वाहक है। पर्वतों को कम्पित करने वाले मरुतों के वाहन भी अश्व हैं और उषा, सूर्य आदि को ऋत्-मार्ग में लाने वाले रथ के वाहक भी अश्व हैं। उनके चित्र वर्ण, उनके ओज, उनके हिरण्य साज और विद्युत् जैसी दीप्ति वल्गाओं के वर्णन स्पष्ट और काव्यात्मक हैं।

क्रमश: स्पष्ट प्रकृति चित्रों का स्थान ऐसे भाव-चित्र ले लेते हैं, जिनमें सूक्ष्म सौन्दर्यबोध के साथ किसी शाश्वत् अलक्ष्य ऋत् का भी संकेत प्राप्त होने लगता है।

एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि
ज्योतिर्वसाना समना पुरस्तात्।
ऋतस्य पन्थामन्वेति साधु प्रजानतीव
न दिशो मिनाति। (ऋक्० 1-124-3)

यह आकाश की पुत्री, आलोकवसना उषा प्रत्यक्ष उदित हुई है। यह ऋत् (नियम) का अनुसरण करती हुई सब दिशाओं का ज्ञान रखती है (उन्हें अन्धकाराच्छन्न नहीं रहने देती)।

व्यक्तिगत रागात्मक सम्बन्ध के परिचायक वरुणसूक्त हैं, जिनमें आगामी युगों में विकास पाने वाले रहस्यवाद के अंकुर स्पष्ट हैं :

क्वत्यानि नौ सख्या बभूवु: सचावहे यदवृकं पुराचित्।
वृहन्तं मानं वरुण स्वधाव: सहस्त्रद्वारं जगमा गृहं ते।।
(ऋक्० 7-88-5)

हे वरण योग्य, हमारा वह पुरातन सख्य क्या हुआ ? पूर्व काल में जो हमारी मित्रता हुई थी, हम उसी का निर्वाह करें। हे महान स्वामी, तुम्हारे सहस्त्रों द्वार वाले गृह में मैं आऊंगा।

प्रकृति की जिस विविधता में उन्हें अनेक देवों का बोध हुआ था, उसी में उन्होंने एकत्व की अनुभूति प्राप्त की :

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नोनातिरोहित ॥

(ऋक्० 10-10-2)

यह सब कुछ वह पुरुष ही है—ये जो भूत (उत्पन्न हो चुके हैं) और जो होने वाले हैं। वह अमृत का स्वामी और अन्न से सर्वोपरि है।

प्रकृति के उग्र रूपों के प्रति भी उनकी रागात्मिका वृत्ति केवल भय की नहीं थी, क्योंकि उस स्थिति में मानव केवल अन्धविश्वास के अंधकार का वन्दी हो जाता है। उग्र रुद्र रूपों में सौंदर्य और शिवत्व की अनुभूति केवल भीति या आतंक से संभव नहीं है।

रुद्र जैसे उग्रता के प्रतीक देवता की कल्पना का शिव और शंकर में पर्यवसान यही प्रमाणित करता है कि वैदिक मनीषा को प्रलय में भी सौंदर्य की स्थिति का बोध था।

दिवो वराहमरुषं कपर्दिनं त्वेषं रूपं नमसाहि् वयामहे।
हस्ते विभ्रद् भेषजा वार्याण शर्म वर्म छर्दिरस्मभ्यं यंसत ॥

(ऋक्० 1-114-5)

हम आकाश के घोर रूप वाले, पिंगल जटाधारी महान तेजोमय रुद्र का नमस्कार पूर्वक आवाहन करते हैं। वे वरणीय भेषज हाथ में लेकर हमें सुखी करें। अपने रक्षा-कवच से हमें निर्भय करें।

इसी प्रकार मरुतों के रौद्र वेग से भी ऋषि परिचित हैं :

को वो वर्षिष्ठ आ नरो दिवश्चग्मश्च धूतयः।
यत्सीमन्तं न धूनुथ्।
नि वो यामाय मानुषो दध्र उग्रायमन्यवे।
जिहीत पर्वतो गिरिः।

आकाश पृथ्वी को कम्पित करने वाले मरुतो, तुममें श्रेष्ठ कौन है ? तुम

वृक्ष की शाखाओं के समान दिशाओं (पर्वतों) को झकझोर देते हो।

परन्तु इस उग्रता के लिए भी ऋषि की शुभकामना दृष्टव्य है :

स्थिराव : सन्तु नेमयो रथा आश्वास एषाम् सुसंस्कृता अभीशव: ।

(ऋक् 1-38-12)

हे मरुत गण ! तुम्हारे रथचक्रों की नेमि और धुरी दृढ़ हो, तुम्हारी वल्गा स्थिर हो, तुम्हारे अश्व संयत रहें।

ये विविध रागात्मक अनुभूतियां क्रमश: कवि को उस तत्त्वगत जिज्ञासा की ओर ले जाती हैं, जिससे उपनिषद् काल की उदात्त चिन्तन-पद्धति ही नहीं, भारतीय दर्शन की विविध दिशाएं आविष्कृत होती रही हैं।

नासदीय सूक्त उदात्त तत्व-चिन्तन को जन्म देने वाली जिज्ञासा का ऐसा रूप है, जो अपनी चिरन्तनता में भी चिर नवीन लगता रहा है :

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत् ।
किमावरीव: कुहकस्यशमन्नम्भ: किमासीद् गहनं गभीरम् ।

(ऋक् 10-129-1)

उस समय (सृष्टि के आरम्भ में) न असत् था न सत् था। पृथ्वी भी नहीं थी, आकाश और आकाश से परे परमव्योम भी नहीं था। आवरण से कौन आच्छन्न था ? किसका कहां स्थान था ? क्या उस समय अगाध गम्भीर जल ही जल था ?

इतं विसृष्टिर्यत आवभूत यदि वा दधें यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्ष: परमे व्योमन्त्सो अंग वेद वा न वेद ।।

(ऋक्० 10-129-7)

यह अनेक प्रकार की सृष्टि कहां से उत्पन्न हुई ? किसने सृष्टि रचना की और किसने नहीं की, यह सब वही जानते होंगे जो इसके स्वामी और परम व्योम में स्थिति रखते हैं। हो सकता है वे भी न जानते हों।

इन समस्याओं के समाधान की दिशा में असंख्य अन्वेषण हुए उनका अंकुर भी उन्हीं जिज्ञासुओं के मनोजगत में पहले अंकुरित हुआ।

कामस्तदग्रे, समवर्तताधिमनसो रेत: प्रथमं यदासीत् ।
सतोवन्धुमसति निरविन्दन हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।।

(ऋक्० 10-12-4)

सर्वप्रथम उसके मन में काम (इच्छा) उत्पन्न हुआ। उसी से सर्वप्रथम सृष्टि का उत्पत्ति-कारण (बीज) निकला। कवि मनीषियों ने अपने अन्त:-करण में विचार करके बुद्धि द्वारा जो अविद्यमान वस्तु थी, उसे विद्यमान वस्तु का उत्पत्ति-कारण माना।

साहित्य यदि संस्कृति का अक्षय वसन्त है, तो जीवन-दर्शन को उसका धरती की गहनता में छिपा तत्त्व कहा जा सकता है। ऐसी किसी संस्कृति की कल्पना कठिन है, जो बिना किसी विशेष जीवन दर्शन के अविच्छिन्न गतिऔर सनातन आयु का वरदान पा सकी हो।

भारतीय चिन्तन की पद्धतियां भारत के प्राकृतिक परिवेश की कितनी ऋणी हैं, यह उनके तत्वत: अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। प्रकृति के भिन्न और कभी-कभी परस्पर विपरीत रूपों ने जिस प्रकार मानव अन्त:करण में, अनेक देववाद की उद्‌भावना, स्वाभाविक कर दी थी, उसी प्रकार उन विभिन्न रूपों में स्पन्दित जीवन ने, भिन्न अंग-प्रत्यंगवाले शरीर के समान सबमें एकत्व का बोध भी अनिवार्य कर दिया। "सर्वं खल्विदं ब्रह्मा:"—यह सब कुछ ब्रह्म है और "एकं सद विप्रा बहुधा वदन्ति"—उस एक को विद्वान अनेक नामों से पुकारते हैं, मानो एक ही चित्र के दो छोर हैं।

भारत की प्रकृति अजस्र वरदानमयी है, अत: उसके वात्सल्य की छाया में मानव-हृदय को जीवन के ही नहीं, प्रकृति के भी सब रूप आत्मीय और सहजात जान पड़े। ऋग्वेद से लेकर गीता तक पहुंच कर, फिर निर्गुण-सगुण भावधाराओं में अनेकता पाने वाले सर्ववाद तथा सर्वात्म-वाद की कथा, जीवन के कितने लक्ष्य-अलक्ष्य तटों को छू आई है, यह बताने की आवश्यकता नहीं है।

वेदान्त दर्शन यदि अखण्ड चेतना के चिर एकाकीपन की एकरस कथा है, तो सांख्य दर्शन निर्विकार पुरुष और चिर परिवर्तनशीला प्रकृति का मधुर द्वन्द्वगीत है।

काव्य में जो तत्व सौन्दर्य की सीमा में बंध गया है, वही दर्शन में सत्य के रूप में मुक्त हो सका है और पुन: वही नैतिक धरातल पर शिव की परिभाषा में अवतरित हुआ है।

भारतीय संस्कृति विविधतामयी है, क्योंकि भारत की प्रकृति अनन्त-रूपा है। वह समन्वयवादिनी है, क्योंकि प्रकृति सबको स्वीकृति देती है। किसी एक विचार, एक भावना और एक धारणा की सीमा उसके लिए बन्धन है, क्योंकि वह असंख्य नदियों-स्रोतों को अपने में मुक्ति देने वाला समुद्र है।

मानव विकास : परम्परा के संदर्भ में

परम्परा एक क्रमबद्धता का पर्याय होने के कारण मानव जीवन के अंतः बाह्य दोनों पक्षों का स्पर्श करती है। विकास के अनादि क्रम में मनुष्य, केवल कर्म की दृष्टि से ही नहीं, अपने दर्शन, चिन्तन, आस्था आदि की दृष्टि से भी किसी ऐसी परम्परा की सुनहरी कड़ी है, जिसका एक छोर अतीत में और दूसरा भविष्य में अलक्ष्य रहता है। इस क्रमबद्धता के अभाव में मानव का मूल्यात्मक परिचय सम्भव नहीं होता। यह एक रागात्मक तथा बौद्धिक दृष्टि से विश्रृंखलित व्यक्ति के लिए भी सत्य है, एवं बुद्धि तथा हृदय की दृष्टि से सर्वथा स्वस्थ विकासशील व्यक्ति के लिए भी।

जब विचार, दर्शन, संवेदन तथा क्रिया एक विशेष क्रम के साथ आवर्तित संवर्तित होते हैं तभी उनसे सामान्य निष्कर्ष रूपरेखा पाते हैं।

उदाहरण के लिए, अपने कठोर कर्म की निरन्तरता से निष्ठुर व्यक्ति भी किसी क्षण द्रवित या कोमल हो सकता है, परन्तु इस एकाकी घटना के कारण हम उसे कोमल नहीं मान लेंगे। जब ऐसे क्षणों की आवृत्तियां सामान्य हो जाएंगी, तभी वे उसकी स्वभावगत विशेषता बन कर उसके व्यक्तित्व का परिचय दे सकेंगी। मानव-जीवन-क्रम में बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति परम्परा की रहती है।

अन्तर केवल यही है कि किसी चिन्तन, दर्शन या आस्था को किसी मानव-समूह की विशेषता बनने में अनेक युग लग जाते हैं।

मानव-जाति का विकास-क्रम इतना जटिल और संघर्षमय रहता है कि उसे युग विशेष में सीमित करके देखना अनेक भ्रान्तियों को जन्म दे सकता है।

अमुक जाति शान्तिप्रिय है, ऐसी सामान्य जान पड़नेवाली धारणा के लिए अनेक युगों की गतागत पीढ़ियों के विचार, चिन्तन, मनोराग तथा कर्म ही प्रमाण हो सकते हैं और ये प्रमाण परम्परा-सापेक्ष ही रहेंगे।

प्रत्येक मानव या मानव-समूह विशेष परिवेश और परिस्थितियों में जन्म तथा विकास पाता है और उसकी जीवन-पद्धति तथा मूल्यात्मक मान्यतायें कुछ परम्परित और कुछ स्वार्जित होती हैं। परन्तु सभी जीवन मूल्यों की स्थिति के लिए आवश्यक धरती मानव की अनेकता ही रहेगी, क्योंकि शून्य में रहनेवाले एकाकी मानव को इनकी आवश्यकता नहीं होगी।

विविध तथा विकासशील होने पर भी न प्रकृति को मूल्यात्मक विशेषता की आवश्यकता है, न मानवेतर जीवजगत को।

प्रकृति एक व्यापक ऋत् या नियम से संचालित है, परन्तु उसमें स्वतन्त्र संकल्प-विकल्प न होने के कारण उचित-अनुचित, सत्य-असत्य, अच्छा-बुरा आदि द्वंद्वों की स्थिति सम्भव नहीं।

पशु-पक्षि जगत प्रकृतिदत्त सहज चेतना से ही क्रमबद्ध कार्य की क्षमता पाता है। उसे भी मानव के समान संकल्प-विकल्प की अपेक्षा नहीं है।

वस्तुतः मानव ही को कर्म के चुनाव की शक्ति प्राप्त है, अतः वही परम्परा का सचेतन संग्राहक हो सकता है।

मानव जीवन का संचालक ऋत् युगयुगान्तर से उसके पूर्वजों की मूल्यात्मक उपलब्धियों से निर्मित होता आ रहा है और इस विराट ऋत् को युगविशेष में निर्मित रूपरेखा का परिचय परम्परा ही देती है। इसी कारण हर युग में मानव अपने पूर्वगामी अग्रजों को, ज्ञान-विज्ञान, दर्शन, साहित्य, कला आदि में अर्जित उपलब्धियों को अपनी मानकर अग्रसर होता आया है।

शिल्पी जब एक विशाल प्रस्तर-खण्ड को सामने रख उसमें अपना मानसी प्रतिमा को रूपायित करने बैठता है तब उसे एक ही दिन में पूर्णता तक नहीं पहुंचा पाता; प्रत्युत् वह प्रतिदिन क्रम से कुछ तराशता, कुछ बनाता हुआ अनेक दिनों में उसे सर्वांगपूर्ण कर पाता है।

यदि शिल्पी अपने निर्माण-क्रम में एक दिन आंकी हुई अंशाकृति का दूसरे दिन तराश कर फेंक दे तो मूर्ति का प्रश्न तो समाप्त हो ही जाएगा, प्रस्तरखण्ड भी कणों में बिखर कर अपना महत्व खो देगा।

बहुत कुछ ऐसी ही स्थिति मानवता की होगी, यदि एक युग की

उपलब्धियों को दूसरा युग नष्ट करता चले। नदी से नहरें निकाली जा सकती हैं, किन्तु उसके प्रवाह को खण्ड-खण्ड में बांटना, उसका नदीत्व समाप्त करना है।

परम्परा जीवन-पद्धति के बाह्य-रूप के साथ जीवन-मूल्यों तथा उपलब्धियों के अन्तर्निहित तत्वों को वहन करती हुई युग-युगान्तरों का संक्रमण करती है। यह निर्विवाद है कि प्रत्येक युग की विशेष समस्याएं तथा विशेष समाधान होते हैं और युग विशेष की जीवन-पद्धति में इनका प्रतिफलित होना स्वाभाविक ही नहीं, अनिवार्य है।

भिन्न परिस्थितियों वाले युग यदि इसी, प्रतिफलन को अपनी जीवन-पद्धति बनाना चाहें तो वह परम्परा और युग दोनों के साथ अन्याय होगा।

बीज का कुछ अंश मिट्टी में नष्ट हो जाता है और कुछ अंश अंकुर में परम्परित होता हुआ, इसी क्रम से फल की परिणति तक पहुंचता है।

इसी प्रकार परम्परा का युग-सीमित अंश क्षरित होकर ही उसे संचरण-शीलता देता है।

मानव जीवन की परम्परा विकास और ह्रास का लेखा-जोखा या इतिवृत्त मात्र नहीं होती। वह तो मानव के चिन्तन, जीवनदृष्टि तथा रागात्मक विस्तार का ऐसा संयोजन है जो जीवन को ऊर्ध्व से ऊर्ध्वतर, सुन्दर से सुन्दरतर बना सकता है।

इस प्रकार परम्परा के अन्तर्निहित तत्व भिन्न-भिन्न युगों में स्थिति ही नहीं रखते, उन्हें अनक प्रयोगों की अग्नि-परीक्षा भी पार करनी पड़ती है।

इन प्रयोग रूपों में सत्य का युग-सीमित अंश भी रहता है और युग निरपेक्ष सर्वकालीन अंश भी। उन्हें वहन कर लाने वाली जीवन-पद्धति युग-सापेक्ष हो सकती है परन्तु इससे तत्वगत महार्घता में अन्तर नहीं पड़ता। आभूषणों के रूपान्तरण के कारण स्वर्ण की महार्घता घट नहीं जाती।

इतने युगों के समुद्र पार कर आने पर भी हमारे विश्व-बन्धुता, पंचशील, सह-अस्तित्व, शान्ति आदि शब्दों में अन्तर्निहित परम्परा जीवन की मूल्यात्मक दीप्ति से उज्ज्वल है।

विज्ञान ने हमें अपने परम्परागत जीवन-मूल्यों के उपयोग के लिए

और भी विस्तृत क्षेत्र तथा विराट मानव-परिवार दे दिया है। अतः आज यदि हम परम्परा के वाह्य और युग-सापेक्ष रूपों में ही अपने आपको बन्दी न बना लें, तो हमारे दर्शन, साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान सब मानव समष्टि को समृद्ध करेंगे।

अतीत का इतिवृत्तात्मक लेखा इतिहास है, अतः तटस्थता उसका विशेष गुण मानी जाएगी। परम्परा के समान इतिहास मनुष्य के रागात्मक तथा बौद्धिक दोनों तटों को स्पर्श करता हुआ प्रवाहित नहीं होता, परन्तु जिन घटनाओं को वह प्रस्तुत करता है, वे किसी भूमि-खण्ड तथा मानव-समूह में सम्बद्ध होने के कारण विशेष प्रकार के संस्कार तथा स्मृति-मंडल से घिरी रहती हैं।

घटनाएं शून्य में घटित नहीं होतीं, वरन उनके घटने में मानव-जीवन की अनेक सरल जटिल परिस्थितियां कारण रूप रहती हैं। उक्त परि-स्थितियों से देश विशेष में विकसित-जीवित मानव-समष्टि के स्मृति-संस्कार अविच्छिन्न सम्बन्ध में इस प्रकार बंधे रहते हैं कि एक घटना ही नहीं, एक शब्द का उल्लेख भी, अनेक मनोरागों को जगा सकता है।

कुरुक्षेत्र, पानीपत जैसे शब्द एक भारतीय को जिन भावनाओं से अभि-भूत कर सकते हैं, वे अन्य देशवासियों के निकट अपरिचित ही रहेंगी।

इस स्मृति-मन्त्र को खण्डित करने के लिए ही विजेता जातियां, विजित जातियों के इतिहास को अपने मिथ्यावाद से खण्डित करती रही हैं।

वस्तुतः जिस युग तक इतिहास का आलोक नहीं पहुंच पाता, उसे भी मानव ने अपनी प्रगति-गाथा की सम्पूर्णता के लिए, अपने अनुमान और कल्पना से रेखा-रंगों में साकार कर लिया है।

भारत के इतिहास में स्वर्ण युग भी आए हैं और अन्धकार के युग भी। उसमें साम्राज्यों की गाथा भी है और गणराज्यों की कथा भी।

परन्तु यह इतिहास अपने घटित इतिवृत्त की विविधता और विस्तार से हमारी बौद्धिक उपलब्धियों के कोष को ही अधिक समृद्ध बनाता है। परम्परा के समान जीवन की गति को प्रगति अथवा अगति बनाने की क्षमता उसमें सम्भव नहीं। अक्षय से अक्षय ज्ञान बुद्धि के किसी कोने में निष्क्रिय पड़ा रह सकता है, परन्तु क्षणिक् से क्षणिक् अनुभूति भी हृदय की

सीमा पार कर जीवन को उद्वेलित करने में समर्थ है।

परम्परा हृदय की स्वीकृति होने के कारण अनुभूति में गतिशील रहती है, अतः उसका परिणाम अधिक सृजन या ध्वंस मूलक होकर ही फलित हो सकता है।

स्वतन्त्र भारत को नवीन वैज्ञानिक युग के आलोक में अपनी परम्परा तथा इतिहास की उपलब्धियों का पुनः परीक्षण निरीक्षण करना चाहिए। इससे उसकी सर्वांगीण प्रगति का पथ प्रशस्त से प्रशस्ततर होगा।

संस्कृति और प्राकृतिक परिवेश

जड़ जगत अपने आदिम रूप में चाहे जल का अनन्त विस्तार रहा हो, चाहे अग्नि का ज्वलित विराट पिण्ड, परन्तु उसमें जैवी प्रकृति को उत्पन्न करने की क्षमता रहना निश्चित है।

अणु परमाणुओं ने किस अज्ञात ऋत् से आकर्षित विकर्षित होकर जीव-सृष्टि में अपने आपको आविष्कृत होने दिया, यह तो अनुमान का विषय है, परन्तु प्रत्यक्ष यही है कि प्रकृति की किसी ऊर्जा से उत्पन्न जीवन फिर उसी से संघर्षरत रहता हुआ, स्वयं परिष्कृत होता चला आ रहा है।

यह परिष्कार-क्रम मानव-जीवन के समान ही वनस्पति और शेष जीव जगत में भी व्यक्त होता रहता है। मरुभूमि में उत्पन्न होने वाली वनस्पति अपनी रक्षा के लिए विशेष प्रकार के कांटे-फूल और रंग रेखा में अपनी जीवन ऊष्मा को व्यक्त करती है और पर्वत जल आदि की वनस्पतियां भी अपने-अपने प्राकृतिक परिवेश की अनुरूपता ग्रहण करके ही विकास कर पाती हैं।

प्राणि जगत में भी यह परिष्कार-क्रम विविध और रहस्यमय है। इस प्रकार इस विकास-पद्धति को ऐसा जैवी धर्म कहा जा सकता है, जिसके द्वारा सृष्टि अपने प्राकृतिक परिवेश से कुछ संघर्ष, कुछ समझौते करके कभी उसके अनुकूल बनती, कभी उसे अपने अनुकूल बनाती विकास की स्थिति उत्पन्न करती रहती है।

इस प्रकार प्राकृतिक परिवेश से जीव प्रकृति का सम्बन्ध केवल ऐसा नहीं है जैसा सीप के सम्पुट और मोती में होता है। मोती सीप में उसके द्रव से बनता अवश्य है, परन्तु उसके बनने का क्रम किसी विजातीय सिकता-कण से आरम्भ होता है, जो किसी प्रकार सीप के सम्पुट के भीतर प्रवेश पा लेने पर उसकी कोमलता में चुभ-चुभ कर उसे द्रवित करता रहता है।

वस्तुत: प्राकृतिक परिवेश के साथ जैवी प्रकृति की स्थिति धरती और बीज की स्थिति है, जो एक का दूसरे में रूप परिवर्तन है और जिसमें आदि से अन्त तक बीज को अपने नित्य के पोषण परिवर्धन के लिए ही नहीं, अपनी स्थिति के लिए भी धरती की आवश्यकता रहती है।

मोती सीप में ढलकर बनकर भी उससे भिन्न हो जाता है और यह पृथकता ही उसकी महार्घता का कारण है। शुक्ति-सम्पुट में बन्द रहकर अतल समुद्र में न उसे संज्ञा मिलती है, न मूल्य। इसके विपरीत बीज की, धरती के अन्धकार से बाहर आकर और वृक्ष के रूप में परिणत होकर भी, धरती के अतिरिक्त कोई स्थिति नहीं है। वह तो जिससे जन्म और पोषण पाता है, उसी से संघर्षरत रहकर बढ़ता है। शुक्ति से बाहर आकर मोती का महार्घ जीवन आरम्भ होता है और धरती छोड़कर वृक्ष की निश्चित मृत्यु आरम्भ होती है।

यह नियम मानव-जीवन और उसके प्राकृतिक परिवेश के सम्बन्ध में और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि वह भूत प्रकृति में जैवी प्रकृति का श्रेष्ठतम रूप है। विकास की दृष्टि से महाकायता की गति लघुता की ओर और स्थूलता की सूक्ष्मता की ओर रही है। इसी नियम से किसी युग के विशालकाय जीव आज चिन्हशेष भी नहीं रह गए हैं।

मानव-जीवन जड़ और चेतना का ऐसा स्थायी सन्धिपत्र है, जिसमें पार्थिवता से वलयित चेतना ही को विशेषाधिकार प्राप्त है। शरीर से रहित चेतना आत्मभाव हो चाहे परमभाव, परन्तु उसमें प्राण स्पन्दन का अभाव ही रहेगा और चेतना से रहित शरीर चाहे मिट्टी, परन्तु उसमें विकासोन्मुख गति सम्भव नहीं रहेगी।

बौद्धिक होने के कारण मनुष्य ने कभी महाकायता को जीवन का गन्तव्य नहीं बनाया। अत: प्रकृति को कभी छेनी हथौड़ी लेकर उसे छोटा करने के लिए तराशना नहीं पड़ा, अन्यथा महाकाय जीवों के समान वह भी खण्ड-खण्ड होकर बिखर जाता।

हृदयवान होने के कारण उसमें अपने आदिम जीवन में ही जीवन से अधिक प्रिय मूल्यों का आविष्कार कर लिया और इस प्रकार अपने प्राप्त ही नहीं, सम्भाव्य मूल्यों के लिए भी वह बार-बार जीवन देने लगा।

परिणामत: अपने अनन्त सृजन का निरन्तर संहार करने वाली प्रकृति ने यदि उसे मिटाने का श्रम व्यर्थ समझा, तो आश्चर्य नहीं।

प्रकृति ने मानव के निर्माण के लिए यदि अपनी जैवी सृष्टि में असंख्य प्रयोग किये हैं, तो मानव भी, उसे देवता बनाने के लिए अपनी मनोभूमि में भावसृष्टि द्वारा अनन्त प्रयोग करता आ रहा है। आज 'पुत्रो अहं पृथिव्या' कहने वाले पुत्र के सम्बन्ध में धरती की स्थिति 'पुत्रात इच्छेत् पराजयम्' द्वारा ही व्यक्त की जा सकती है।

मानव जाति कब उत्पन्न हुई, वह एक केन्द्र में उत्पन्न होकर पृथ्वी के भिन्न-भिन्न खण्डों में फैल गई या भिन्न-भिन्न भू-भागों में उत्पन्न होकर सामान्य विशेषताओं के कारण जाति की संज्ञा में बंध गई, आदि प्रश्न जीवन के समान ही रहस्यमय हैं और नृतत्वशास्त्री कभी इनका समाधान पा सकेंगे, यह संदिग्ध है।

संस्कृत भाषा में जाति शब्द का इतना व्यापक और गहरा अर्थ है जिसका पर्याय किसी अन्य भाषा में खोजना कठिन होगा। जाति न किसी देश विशेष से सम्बद्ध है और न यह किसी कुल या वंश की संज्ञा है।

सामान्यत: वह उन जन्मगत-विशेषताओं का संश्लिष्ट बोध है, जो बाह्य गठन से अन्तर्जगत तक फैली रहती हैं। यदि जीव-जगत में मानव कुछ निश्चित शारीरिक और मानसिक विशेषताओं का संघात है तो जाति शब्द शरीर और मानसिक दृष्टि से, उसी स्तर, श्रेणी या कक्षा के जीवों की समष्टि का संकेत देता है।

जहां तक बाह्य विशेषताओं का प्रश्न है, प्रकृति कभी आवृत्ति-प्रिय नहीं रही है। व्यक्ति तो क्या, दो तृण तक बाह्य रूप में एक दूसरे से भिन्न मिलेंगे। परन्तु जैसे दो तरंगें अपने-अपने उद्वेलन में भिन्न जान पड़ने पर भी, अपनी मूल जलीयता में एक रहती हैं, वैसे ही पुष्पों में पुष्पत्व और तृणों में तृणत्व एक रहेगा। मनुष्य जाति भी भिन्न-भिन्न प्राकृतिक परि-वेशों से प्रभाव ग्रहण कर वर्ण, गठन आदि में विशेष होकर भी मानवीयता में सामान्य रहेगी। एक उष्ण भू-भाग का कृष्ण वर्ण मनुष्य, एक शीत भू-भाग के गौर वर्ण वाले से, भिन्न जान पड़ने पर भी, मानव सामान्य विशेषताओं में उसी जाति का सदस्य माना जायगा।

परिष्कार-क्रम तो जीवन की शपथ है, अतः प्रत्येक भूमि-खण्ड के निवासी मानवों ने ज्ञात-अज्ञात रूप से अपने विकास की ओर यात्रा आरम्भ की होगी, यह तो निश्चित है, परन्तु सबकी यात्रा के परिणामों का एक बिन्दु पर मिलना सन्दिग्ध रहेगा। नदियों का उद्गम एक हो सकता है, उसकी गतिशीलता भी निश्चित हो सकती है, परन्तु गन्तव्य और दिशा का, तटों से सीमित रहना अनिवार्य है। इसी कारण सभी भू-खण्डों की मानव-जाति एक साथ बुद्धि और हृदय के संस्कार के एक ही स्तर पर पहुंच सकी।

संस्कृति शब्द से हमें जिसका बोध होता है, वह वस्तुतः ऐसी जीवन-पद्धति है, जो एक विशेष प्राकृतिक परिवेश में मानव निर्मित परिवेश सम्भव कर देती है और फिर दोनों परिवेशों की संगति में निरन्तर स्वयं आविष्कृत होती रहती है। यह जीवन-पद्धति न केवल बाह्य, स्थूल और पार्थिव है और न मात्र आन्तरिक, सूक्ष्म और अपार्थिव। वस्तुतः उसकी ऐसी दोहरी स्थिति है, जिसमें मनुष्य के सूक्ष्म विचार, कल्पना, भावना आदि का संस्कार उसकी चेष्टा, आचरण आदि बाह्याचार की परिष्कृति उसके अन्तर्जगत पर प्रभाव डालती है।

सभ्यता, संस्कृति का पर्याय नहीं है, क्योंकि वह किसी मनुष्य के मात्र भद्राचार या सभा के उपयुक्त आचार ही को व्यक्त करती हैं। प्रकारांतर से यह विशेषता मनुष्य के अन्तर्जगत को स्पर्श कर सकती है, परन्तु प्रधानतः इसका क्षेत्र मनुष्य का बाह्य आचरण है। प्रायः ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं, जिनमें बाह्य रूप से शिष्ट व्यक्ति, हृदय और बुद्धि के संस्कार की दृष्टि से असंस्कृत माना जा सकता है। कारण स्पष्ट है। संस्कृति मनुष्य की सहज प्रकृति के परिमार्जन से सम्बन्ध रखने के कारण मात्र बाह्याचार में सीमित नहीं हो पाती। अनेक बार जिसे हम ग्रामीण और सभ्य समाज के अनुपयुक्त समझते हैं, वह अपने अन्तर्जगत के परिष्कार की दृष्टि से संस्कृत मानवों की कोटि में आ जाता है।

मनुष्य की सहज प्रकृति और उसकी स्वार्जित संस्कृति में ऐसा अविच्छिन्न सम्बन्ध है, जिसमें एक की स्थिति में दूसरे की गति निहित है। दृष्टि के लिए जैसे वस्तु से रहित रंग की स्थिति नहीं होती, वैसे ही मूल

प्रकृति के अभाव में, न विकृति में उसका अपकर्ष संभव है न संस्कृति में उसका सामंजस्यपूर्ण उत्कर्ष। इस प्रकार प्रकृति यदि गति का उन्मेष है, तो संस्कृति उस गति की दिशा-निबद्ध संयमित मर्यादा का पर्याय।

मानव-समूह किसी शून्य से शून्य में अवतरित नहीं होता, वरन् वह विशेष भू-खण्ड के विशेष प्राकृतिक परिवेश में जन्म और विकास पाता है। पृथ्वी एक होने पर भी अनेक आकर्षण-विकर्षण से प्रभावित और विविध है, अतः तत्वतः एक होने पर भी मानव जाति को अपने पृथक परिवेशों के कारण भिन्न-भिन्न समस्याओं का सामना करना और भिन्न समाधानों को स्वीकार करना पड़ा।

यही विशिष्ट जीवन-पद्धति एक मानव-समूह को अन्य मानव-समूहों से भिन्न संज्ञा दे देती है। कालान्तर में एक विशेष प्राकृतिक परिवेश में विकसित मानव-समूह, अपने सम्पूर्ण परिवेश-वलयित जीवन को, एक देश या राष्ट्र का व्यक्तित्व देकर, सामान्य मानव-जाति के भीतर एक उपजाति बन जाता है। व्यक्ति के व्यक्तित्व के समान ही उसका देश भी व्यक्तित्व सम्पन्न हो जाता है।

भौगोलिक परिवेश का मानव जीवन के साथ ऐसा आत्मीय सम्बन्ध रहा है कि विरल जातियां ही धर्म या कुल के नाम से जानी जाती हैं। अधिकांशतः मानव-जाति और उसकी संस्कृति प्राकृतिक परिवेश से ही संज्ञा प्राप्त करती रही हैं। रूसी, चीनी, ईरानी, मिस्री आदि नामों से हम उक्त देशों के निवासियों को पहचानते हैं। किसी भी महादेश या लघुदेश में निवास करने वाली मानव-उपजाति से उसकी धरती का सम्बन्ध इतना सार्वभौम समर्थन और पवित्रता पा गया है कि एक जाति के द्वारा दूसरी के देश को छीनने का प्रयत्न गर्हित और अनैतिक माना जाता है और ऐसा करने वाली मानव-जाति को आक्रामक, अत्याचारी की संज्ञा दी जाती है। अनेक बार सबल मानव-समूह ने इस नैतिक नियम को भंग किया है, परंतु वह कभी समग्र मानव जाति के स्नेह और आदर का अधिकारी नहीं हो सका। शक्ति संघर्ष की सफलता के उपरांत भी विजेता और विजित की संस्कृतियों में संघर्ष होता रहा और इस गंभीर संघर्ष में वही संस्कृति विजयिनी रही, जिसके पास जीवन के व्यापक मूल्य और उपलब्धियां थीं।

मानव-जीवन की एकता में आस्थावान जाति के पास मानो सम्पूर्ण आकाश का विस्तार रहता है, जिस पर उसे विभाजित करने वाले, रंगीन बादलों के समान बनते मिटते रहते हैं।

मनुष्य और उसके परिवेश को विशेष व्यक्तित्व देने की दिशा में, उसकी जिज्ञासा अन्य वृत्तियों से अधिक क्रियाशील रही है। साधारण आहार की खोज से लेकर सूक्ष्म धर्म, दर्शन, साहित्य आदि की सभी उपलब्धियों के मूल में वही जिज्ञासा अथक रूप में सक्रिय रहती आई है। वह मूल्यों की खोज ही नहीं, उनकी निर्मात्री भी है। वह प्रकृतिदत्त अतृप्ति का समाधान ही नहीं देती, अतृप्ति की परंपरा भी बनाती चलती है। जैसे काठ में अग्नि की स्थिति पहले से है, घर्षण केवल उसे प्रत्यक्ष कर देती है, उसी प्रकार मानव की जिज्ञासा में चिर अतृप्ति का अंकुर अलक्ष्य रूप से विद्यमान रहता है, जो एक समाधान के संपर्क से अनेक की दिशा में क्रियाशील हो उठता है।

जिन पूर्वजों से हमें धर्म, दर्शन, साहित्य, नीति आदि के रूप में महत्वपूर्ण दायभाग प्राप्त हुआ है, उनके प्राकृतिक परिवेश के भी हम उत्तराधिकारी हैं। उनके पर्वत, वन, मरु, समुद्र, ऋतुएं आदि प्राकृतिक नियम से कुछ परिवर्तित अवश्य हो गए हैं, परन्तु तत्वतः उनकी स्थिति पूर्ववत् है और उनसे हमारे रागात्मक संबंध संस्कार-जन्य ही नहीं व्यक्तिगत भी रहते हैं।

काल-समुद्र की असंख्य तरंग-भंगिमाओं को पार करता और सहस्रों झंझाओं के आघात को झेलता हुआ जो साहित्य हम तक पहुंच सका है, वह हमारे अपराजेय पूर्वजों की संघर्ष-कथा ही नहीं, उनकी उग्र-प्रशांत, कठिन-कोमल प्रकृति का उद्गीथ भी है। मेघ, आकाश, समुद्र, नदी, उषा आदि के जो छंदमय चित्र उनकी तूलिका ने आंके हैं, उनके इन्द्रधनुषी रंग अम्लान और उज्ज्वल रेखाएं अमिट हैं। इतना ही नहीं, उस चित्रशाला की हर रेखा, हर रंग में भारत की धरती की छवि उसी प्रकार पहचानी जाती है, जिस प्रकार अनेक दर्पणखण्डों में प्रतिफल एक मुखाकृति के अनेक प्रतिबिम्ब।

भारत ऐसा व्यक्तित्व-सम्पन्न राष्ट्र है, जिसके प्राकृतिक परिवेश में

मानव-जीवन की विशिष्ट संस्कार-पद्धति रही है। जीवन के परिष्कार-क्रम में मनुष्य की जो महत्वपूर्ण उपलब्धियां होती हैं, उन्हें स्थूल रूप से धर्म, दर्शन, साहित्य, कला, शासन-नीति, आचार-शास्त्र आदि शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं। परन्तु ये भिन्न जान पड़नेवाली उपलब्धियां एक ही संस्कृति-शरीर का अवयव होने के कारण मूलतः एक ही कही जाएंगी। इसी कारण इन सबकी समग्रता भारतीय संस्कृति की संज्ञा में अन्तर्निहित है।

भारतीय संस्कृति और शासन

हिमालय से कन्याकुमारी तक, पूर्व से पश्चिमीय तटों तक जो संस्कृति व्याप्त है वह गंगा यमुना और सरस्वती के तटों पर पली और विकसित हुई है। सामंजस्य और समन्वय का जो स्वर हमारे साहित्य और दर्शन में ध्वनित-प्रतिध्वनित होता आ रहा है उसमें इस भू-भाग के साधक सरस्वती पुत्रों के हृदय और बुद्धि का कितना योग है यह कहने की आवश्यकता नहीं है।

हम उसी धरातल पर खड़े होकर अपनी अनेक समस्याएं सुलझा सकते हैं जिस पर तुलसीदास और कबीर, सूर और रैदास साथ खड़े हो सके थे और जो साहित्य-कला-साधकों तथा चिन्तकों की भूमि है।

अपने स्पर्श को मूल्यवान बना देनेवाले पारस जैसे उत्तराधिकारी को पाकर भी यदि हमारे पास उसके उपयोग के लिए कोई योजना नहीं हो सकती तो हमारे समकालीन चाहे भ्रम में पड़ जायें पर आनेवाली पीढ़ियां हमें क्षमा न करेंगीं।

आज हिन्दी जब राष्ट्रभाषा के पद पर अभिषिक्त हो चुकी है तब हमारा कर्त्तव्य और भी गुरुतर और गम्भीर हो जाता है। हम दीर्घकालीन दासता की गहरी तमिस्त्रा पार करके जागरण के द्वार पर आ पहुंचे हैं। हमारे सामने अभी धुंधला क्षितिज है। उस पर अब भविष्य का ऐसा सुनहला चित्र नहीं आंका जा सका है जिसके अनुरूप हमें जीवन का निर्माण करना है।

हमारी परतन्त्रता हमारी विकासशील सांस्कृतिक परम्पराओं को नष्ट करने में सहायता देती रही है। जैसाकि स्वाभाविक भी था, कोई भी विजेता किसी विजित जाति पर राजनीतिक विजय प्राप्त करके सन्तुष्ट नहीं होता, वह तो सांस्कृतिक विजय भी चाहता है और इसकी प्राप्ति के लिए वह विजित के हृदय और बुद्धि पर अधिकार पाने का प्रयत्न करता रहता है।

हमारे विदेशी शासकों ने इस दिशा में जो सफलता पाई है उसका प्रमाण हमें अपने जीवन में पग-पग पर मिल सकेगा।

आज हम राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र हैं पर हमारी मानसिक दासता अब तक दूर नहीं हो सकी है, न हमारी बुद्धि जड़ता से मुक्त हो सकी है और न हमारी संकीर्णता से त्राण पा सकी है। परिणामतः हमारे सामने नव-निर्माण की कोई रूपरेखा नहीं है।

हमारी राजनीति दलों में गतिशील है। हमारा धर्म रूढ़ियों में अचल है और हमारा समाज विषमता में मूर्छित है।

हमें इस अन्धकार के पार गन्तव्य खोज लेना है, अन्यथा हमारी गति एक विषम वृत्त में होती रहेगी जैसी कोल्हू के बैल की होती है जो निरन्तर चलते रहने पर भी कहीं नहीं पहुंचता।

नवीन जीवन के स्वप्न अधिकारियों के आदेश से नहीं बनेंगे और न उन्हें सत्य करने के संकल्प फाइलों में बन्द मिलेंगे। स्वप्न और आदर्श प्रेरणा और संकल्प तो इस देश के साहित्यकार, कलाकार, विद्वान और चिन्तक ही दे सकते हैं। जो आज सरकारी योजनाओं में उपेक्षित हैं वे ही नवीन राष्ट्र के अलिखित विधान के निर्माता हैं।

मुझसे प्रश्न किया जा सकता है कि जब राष्ट्र के सामने खाद्य और वस्त्र जैसी आवश्यक समस्याएं हैं तब साहित्य, कला, संस्कृति आदि के प्रश्न क्यों उठाए जा रहे हैं ? उनकी ओर ध्यान देने का हमें अवकाश ही कहां है ?

उत्तर में मैं निवेदन करूंगी कि जीवन की प्रगति सर्वांगीण होती है। हम यह नहीं कह सकते कि जब हम सांस ले रहे हैं तब विचार नहीं कर सकेंगे, जब विचार कर रहे हैं तब देखेंगे नहीं और जब देख रहे हैं तब चल नहीं सकेंगे क्योंकि देखने, सुनने, सोचने, विचारने, चलने के कार्य साथ होकर ही हमें सार्थक गति देते हैं।

यदि हमारा शरीर चलता है और मन उसका साथ नहीं देता तो हम विक्षिप्त कहे जाएंगे और यदि मन चलता है पर शरीर उसका साथ देने में असमर्थ है तो हम पक्षाघात के रोगी कहे जाएंगे। स्वस्थ शरीर और मन के समान ही राष्ट्र का मानसिक और भौतिक विकास साथ चलता है।

समस्याएं हमारे सामने ही नहीं अन्य देशों के सामने भी हैं और थीं, पर उसके कारण उनका मानसिक विकास नहीं रुद्ध हो गया। उदाहरण के लिए, हम जीवन और मरण के संघर्ष में लगे हुए रूस और चीन को ले सकते हैं। युद्ध की स्थिति में भी चीन के साहित्यकार, कलाकार, विद्वान और जिज्ञासु सब खाइयों में, पर्वतों पर, वनों में अपना कार्य करते थे और शत्रु के आने का समाचार पाते ही पीठ पर पुस्तकें और कलाकृतियां बांध कर एक स्थान से दूसरे सुरक्षित स्थान तक पहुंचाते थे। उस समय आरंभ किया हुआ कार्य आज वहां किस पूर्णता तक पहुंचा है यह सब प्रकट है। इसी प्रकार रूस जब जीवन-मरण के संघर्ष में उलझा हुआ था तब भी उसके साहित्यकार, कलाकार कार्य कर रहे थे और उसकी विजय में उनका भी पर्याप्त योग है जिन्होंने जूझने वालों को निराश नहीं होने दिया। अन्य गतिशील देश भी इसका अपवाद नहीं है।

यह कहना साहित्यकार का अपमान करना है कि वह जीवन के संघर्ष में साथ नहीं दे सकता। जो जीवन को आदर्श देते हैं, स्वप्न देते हैं, अनुभूति देते हैं वे तो जीवन के निरन्तर साथी हैं ही, वे जीवन के मूल्यों की स्थापना भी करते हैं और उन मूल्यों की रक्षा के लिए जीवन की बाजी लगाने की प्रेरणा भी देते हैं।

हमारा देश निराशा के गहन अन्धकार में साधक साहित्यकारों से ही आलोक दान पाता रहा है। जब तलवारों का पानी उतर गया, शंखों का घोष विलीन हो गया, तब भी तुलसी के कमंडल का पानी नहीं सूखा और सूर के एकतारे का स्वर नहीं खोया। आज भी जो समाज हमारे सामने है वह तुलसीदास का निर्माण है। हम पौराणिक राम को नहीं जानते, तुलसीदास के राम को जानते हैं।

हमारे स्वतन्त्रता के संग्राम में भी जिन्होंने राजनीतिक मोर्चे पर संघर्ष किया है उनसे कम महत्व उन साधकों का नहीं है जिन्होंने हमारी सांस्कृतिक निधियों की रक्षा का भार संभाला है। उस घोर संघर्ष में से जो कुछ वे बचा लाए हैं उनका अभी मूल्यांकन नहीं हो सका है, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसके कारण हम साहित्य और संस्कृति में समृद्ध देशों के सामने मस्तक ऊंचा करके खड़े रह सकते हैं। जिन वाणी पुत्रों के स्वरों में हमारे पराजय-

क्लान्त देश की अपराजित आत्मा बोलती रही है, उनका मूल्य घटाकर हम अपना ही मूल्य घटा देंगे। उनमें से अनेक आज भी, जब देश को राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो चुकी है, एक लोटा गंगाजल से अपने उपवास का पारायण करते हैं और उनके मस्तक पर झोंपड़ी की छाया भी नहीं है। पर उनकी पुस्तकों पर शोध कार्य हो रहा है और उनके श्रद्धालु पाठकों की संख्या उत्तरोत्तर अधिक हो रही है। ऐसी विषमता का परिणाम सबके लिए अहितकर है। राज्य की योजनाओं में ऐसी निश्चित योजना होनी चाहिए जिससे साहित्य और राजनीति मिलकर निर्माण का कार्य कर सकें।

संस्कृति और साहित्य के साथ शिक्षा का सम्बन्ध अटूट है। विदेशी शासकों ने हमारे शिक्षालयों को ऐसा कारखाना बना डाला था जिसमें निर्जीव क्लर्क मात्र गढ़े जाते थे। उन्हें अपना शासन-यन्त्र चलाने के लिए ऐसे ही पुतलों की आवश्यकता थी जिनमें न अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं का ज्ञान होता था, न अपने चरित्र का बल होता था।

हम आज भी उसी ढांचे को चला रहे हैं जिसमें मनुष्य को मनुष्यता देने की कोई शक्ति नहीं है। आज भी हमारी शिक्षा का लक्ष्य प्रमाण पत्र देना मात्र है। हम विश्वविद्यालयों के गगनचुम्बी भवन, कीमती फर्नीचर और ऊंचे-ऊंचे वेतन पानेवाले शिक्षकों को जानते हैं और गांव की उस पाठशाला से भी परिचित हो सकते हैं जहां मेघ से अधिक छप्पर बरसता है, फटा टाट ही धरती की एकमात्र सजावट है और तीन-तीन मास वेतन न पाने वाले तथा विद्यार्थियों से एक-एक मुट्ठी चने मांगकर अपनी क्षुधा शान्त करने वाले गुरु हैं। भाव और अभाव की चरम सीमाओं पर स्थित ऐसे विश्वविद्यालयों और ऐसी पाठशालाओं में एक ही समानता मिलेगी और वह है उचित ज्ञान के आदान-प्रदान का भाव जिसके लिए शिक्षक और विद्यार्थी एकत्र होते हैं और जिसकी सफलता विद्यार्थी को पूर्ण बनाना है।

किस विषय का कितना अंश कंठाग्र करा दिया जावे इसकी हमें चिन्ता हो सकती है, पर वह कैसे और किन परिस्थितियों में हृदयंगम किया जावे जिससे विद्यार्थी रजिस्टर मात्र न बन जावे, इसकी ओर हमारा ध्यान नहीं

जाता। परिणाम स्पष्ट है। जिस व्यावसायिक नियम से हम महंगा प्रमाण पत्र देने का व्यापार करते हैं उसी से खरीदार वैध-अवैध, उचित-अनुचित किसी भी साधन से सस्ता प्रमाण पत्र चाहता है। इसमें बाधा डालने पर विद्यार्थियों द्वारा शिक्षकों की हत्याएं तक हो चुकी हैं। मारपीट के समाचार तो नित्य मिलते रहते हैं।

मनुष्य यंत्र नहीं है कि उसके सब कल-पुर्जे खोलकर ठीक कर दिए जाएंगे और तेल या ग्रीज डालकर पुनः चालू कर दिया जाएगा। प्रत्येक मनुष्य विशेष परिस्थितियों में, विशेष संस्कारों के साथ उत्पन्न होता है, इन परिस्थितियों और संस्कारों में कुछ अनुकूल हो सकते हैं और कुछ प्रतिकूल। शिक्षालय ऐसे कारखाने हैं जहां विषम प्रभावों का संशोधन होता है और सामन्जस्य भावना का विस्तार। दूसरे शब्दों में, यहां मनुष्य की बुद्धि और हृदय खराद पर चढ़ते हैं। और तब नए रूप से समाज के सम्मुख आते हैं। किसी सुन्दर स्वप्न, आदर्श या अनुभूति को दूसरे को देना सहज नहीं होता। इस आदान-प्रदान में देने वाले और पाने वाले में समान रूप से पात्रता होनी चाहिए जो ज्ञान देने वाले और पाने वाले दोनों को धन्य कर देता है। उसे देने और पाने की परिस्थिति और होती है और वातावरण और होता है। हमारी शिक्षा, चाहे वह प्राथमिक हो चाहे उच्च, उसने मनुष्य की सम्भावनाओं की ओर कभी ध्यान नहीं दिया। वह तो केवल नौकरी दिलाने के लिए प्रमाण-पत्र देती हैं और उसे भी नहीं दिला पाती। हमारा विद्यार्थी वर्ग जो घोर अर्थ संकट और सामाजिक कुण्ठा में पलता है, शिक्षा की समाप्ति पर अपने जीवन की समाप्ति के निकट पहुंच जाता है। इस प्रकार की निराशा और आत्मघाती प्रवृत्तियों से घिरी नवीन पीढ़ी से देश को क्या नया निर्माण मिल सकेगा यह विचारणीय है।

प्रेरणा, स्फूर्ति और ज्ञान की दृष्टि से हमारी शिक्षा में ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन चाहिए जो नवीन पीढ़ी को चारित्रिक दृढ़ता और सांस्कृतिक दृष्टि दे कर उन्हें इस महान देश के गौरव के अनुरूप सशक्त और उदार मनुष्य बना सके।

जीवन की वर्तमान विषमता दूर करने का जो रसायन हमारे साहित्य में है उसका शिक्षा में उपयोग न करना भूल होगी। इतिहास बताता है कि

जब जब एक देश दूसरे देश से शक्ति के घोष में बोलता है तब तब एक दास और दूसरा स्वामी हो जाता है। एक विजित और दूसरा विजेता बन जाता है। परन्तु जब-जब एक देश दूसरे देश से साहित्य के स्वर में बोलता है तब तब सात समुद्र का अन्तर पार कर, उन्नत पर्वतों को लांघकर उनके हृदय एक दूसरे के निकट आ जाते हैं, एक दूसरे के सुख-दु:खों से तादात्म्य कर लेते हैं।

साहित्य की भूमि पर कालिदास और तुलसीदास जितने हमारे हैं उतने सारे विश्व के हैं और शेक्सपियर, गोर्की, टालस्टाय आदि जितने अपने देशों के हैं, उतने ही हमारे हैं। हम धरती पर दीवारें खड़ी करके उसे बांट सकते हैं, पर उन दीवारों की ऊंचाई से आकाश खंड-खंड में नहीं बट सकता है। हम तोलकर बादलों का बंटवारा नहीं कर सकते, नाप कर किरणों को विभाजित नहीं कर सकते और गिन कर तारों को नहीं ले दे सकते। वे सब के होने के लिए ही प्रत्येक के हैं। इसी प्रकार की एकता साहित्य में मिलती है, यदि आज के विषम जीवन में हम नई पीढ़ी की एकता बनाए रखना चाहते हैं तो हमें शिक्षा में साहित्य और संस्कृति को ऐसा महत्वपूर्ण स्थान देना होगा, जिससे विद्यार्थी को मानव एकता और विश्व बन्धुत्व का संदेश प्राप्त हो सके और वह अधिक पूर्ण मनुष्य बन सके। इसके साथ-साथ हमें अपनी नवीन पीढ़ी के विधाता साहित्यकारों तथा शिक्षकों को भी उपेक्षणीय स्थिति से मुक्त करना होगा।

भाषा का प्रश्न

भाषा मानव की सबसे रहस्यमय तथा मौलिक उपलब्धि है। वैसे वाह्य जगत भी ध्वनि-संकुल है तथा मानवेतर जीव जगत को भी अपनी सुखद-दु:खद जीवन-स्थितियों को व्यक्त करने के लिए कण्ठ और स्वर प्राप्त हैं।

चेतन ही नहीं, जड़ प्रकृति के गत्यात्मक परिवर्तन भी ध्वनि द्वारा अपना परिचय देते हैं। वज्रपात से लेकर फूल के खिलने तक ध्वनि के जितने कठिन-कोमल आरोह-अवरोह हैं, निदाघ के हरहराते ववण्डर से लेकर वासन्ती पुलक तक लय की जो विविधतामयी मूर्च्छना है, उसे कौन नहीं जानता ! पशु-पक्षि जगत के सम-विषम स्वरों की संख्यातीत गीति-मालाओं से भी हम परिचित हैं। परन्तु ध्वनियों के इस संघात को हम भाषा की संज्ञा नहीं देते, क्योंकि इसमें वह अर्थवत्ता नहीं रहती, जो हृदय और बुद्धि को समान रूप से तृप्ति तथा बोध दे सके।

मानव कण्ठ को परिवेश विशेष में जीवनाभिव्यक्ति के लिए जो ध्वनियां दाय भाग में प्राप्त हुई थीं, उन्हें उसने अपनी सर्जनात्मक प्रतिभा से सर्वथा नवीन रूपों में अवतरित किया। उसने अपनी जीवनाभिव्यक्ति ही नहीं, उसके विस्तृत विविध परिवेश को भी ऐसे शब्द-संकेतों में परिवर्तित कर लिया, जो विशेष ध्वनि मात्र से किसी वस्तु को ही नहीं, अशरीरी भाव और बोध को भी रूपायित कर सके और तब उस वाणी के द्वारा उसने अपने रागात्मक संस्कार तथा बौद्धिक उपलब्धियों को इस प्रकार संग्रथित किया कि वे प्रकृति तथा जीवन के क्षण-क्षण परिवर्तित रूपों को मानव चेतना में अक्षर निरन्तरता देने की रहस्यमयी क्षमता पा सके।

मनुष्य की सर्जनात्मक अभिव्यक्ति में सबसे अधिक समर्थ अक्षर और भाषा ही होती है। वही मानव के आन्तरिक तथा बाह्य जीवन के परिष्कार का आधार है, क्योंकि बौद्धिक क्रिया, मनोरागों की अभिव्यक्ति, तथा उनके परस्पर सम्बन्धों को संग्रथित करने में भाषा एक स्निग्ध किन्तु

अटूट सूत्र का कार्य करती है। भाषा में स्वर, अर्थ, रूप, भाव तथा बोध का ऐसा समन्वय रहता है, जो मानवीय अभिव्यक्ति को व्यष्टि से समष्टि तक विस्तार देने में समर्थ है।

मानव व्यक्तित्व के समान ही उसकी वाणी का निर्माण दोहरा होता है। जैसे मनुष्य का व्यक्तित्व वाह्य परिवेश के साथ उसके अन्तर्जगत के घात-प्रतिघात, अनुकूलता-प्रतिकूलता, समन्वय आदि विविध परिस्थितियों द्वारा निर्मित होता चलता है, उसी प्रकार उसकी भाषा असंख्य जटिल-सरल, अन्तर-वाह्य प्रभावों में गल-ढलकर परिणति पाती है। कालान्तर में हमारी सम्पूर्ण बौद्धिक तथा रागात्मक सत्ता शब्द-संकेतों से इस प्रकार संग्रथित हो जाती है कि एक शब्द-संकेत अनेक अप्रस्तुत मनोराग जगा देने की शक्ति पा जाता है।

भाषा सीखना तथा भाषा जीना एक-दूसरे से भिन्न हैं तो आश्चर्य की बात नहीं। प्रत्येक भाषा अपने ज्ञान और भाव की समृद्धि के कारण ग्रहण करने योग्य है, परन्तु अपनी समग्र बौद्धिक तथा रागात्मक सत्ता के साथ जीना अपनी सांस्कृतिक भाषा के संदर्भ में ही सत्य है। कारण स्पष्ट है। ध्वनि का ज्ञान आत्मानुभव से तथा अर्थ का बुद्धि से प्राप्त होता है। शैशव में शब्द हमारे लिए ध्वनि-संकेत मात्र होते हैं। यदि हम ध्वनि पहचानने से पहले उसके अर्थ से परिचित हो जावें तो हम सम्भवतः बोलना न सीख सकें।

अतः यह कहना सत्य है कि वाणी आत्मानुभूति की मौलिक अभि-व्यक्ति है, जो समष्टि-भाव से अपने विस्तार के लिए भाषा का रूप धारण करती है। इसी से पाणिनि ने कहा है :

'आत्मा बुद्धया समेत्यार्थान् मनोयुक्त विवक्षया'। (आत्मा बुद्धि के द्वारा सब अर्थों का आकलन करके मन में बोलने की इच्छा उत्पन्न करती है।)

मानव व्यक्तित्व जैसे प्राकृतिक परिवेश से प्रभावित होता है, उसी प्रकार उसकी भाषा भी अपनी धरती से प्रभाव ग्रहण करती है और यह प्रभाव भिन्नता का कारण हो जाता है। परन्तु भाषा सम्बन्धी बाह्य भिन्नतायें पर्वत की ऊंची-नीची अनमिल श्रेणियां न होकर एक ही सागर-

तल पर बनने वाली लहरों से समानता रखती हैं। उनकी भिन्नता समष्टि की गति को निरन्तरता बनाए रखने का लक्ष्य रखती है, उसे खण्डित करने का नहीं।

प्रत्येक भाषा ऐसी त्रिवेणी है, जिसकी एक धारा व्यवहारिक जीवन के आदान-प्रदान सहज करती है, दूसरी मानव के बुद्धि और हृदय की समृद्धि को अन्य मानवों के बुद्धि तथा हृदय के लिए सम्प्रेषणशील बनाती है और तीसरी अन्तःसलिला के समान किसी भेदातीत स्थिति की संयोजिका है।

हमारे विशाल देश की रूपात्मक विविधता उसकी सांस्कृतिक एकता की पूरक रही है, उसकी विरोधिनी नहीं। इसी से विशेष जीवन-पद्धति, चिन्तन, रागात्मक दृष्टि, सौन्दर्यबोध आदि के सम्बन्ध में तत्वगत एकता ने देश के व्यक्तित्व को इतने विघटनधर्मा विवर्तनों में भी संश्लिष्ट रखा है।

धरती का कोई खण्ड नदी, पर्वत, समतल आदि का संघात कहा जा सकता है। मनुष्यों की आकस्मिक रूप से एकत्र भीड़ मानव-समूह की संज्ञा पा सकती है। परन्तु राष्ट्र की गरिमा पाने के लिए भूमिखण्ड विशेष की ही नहीं, एक सांस्कृतिक दायभाग के अधिकारी और प्रबुद्ध मानव समाज की भी आवश्यकता होती है, जो अपने अनुराग की दीप्ति से उस भूमि-खण्ड के हर कण को इस प्रकार उद्भासित कर दे कि वह एक चिर नवीन सौन्दर्य में जीवित और लयवान हो सके।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हिमकिरीटिनी भारत-भूमि ऐसी ही राष्ट्र प्रतिमा है। ऐसे महादेश में अनेक भाषाओं की स्थिति स्वाभाविक है, किन्तु उनमें से प्रत्येक भाषा एक वीणा के ऐसे सधे तार के समान रह कर ही सार्थकता पाती है, जो रागिनी की सम्पूर्णता के लिए ही अपनी झंकार में अन्य तारों से भिन्न है।

सभी भारतीय भाषाओं ने अपनी चिन्तना तथा भावना की उपलब्धियों से राष्ट्र-जीवन को समृद्ध किया है। उनकी देशगत भिन्नता, उनकी तत्वगत एकता से प्राणवती होने के कारण महार्घ है।

ज्वाला धरती की गहराई में कोयले को हीरा बनाने की क्रिया में

संलग्न रहती है, और सीप जल की अतल गहनता में स्वाति की बूंद से मोती बनाने की साधना करती है। न हीरक धरती की ज्वाला को साथ लाता है, न मुक्ता जल की गहराई को, परन्तु वे समान रूप से मूल्यवान रहेंगे।

हम जिस संक्रान्ति के युग का अतिक्रमण कर रहे हैं, उसमें मानव जीवन की त्रासदी का कारण संवेदनशीलता का आधिक्य न होकर उसका अभाव है।

हमारी राजनीतिक स्वतन्त्रता के साथ हमारी मानसिक परतन्त्रता का ऐसा ग्रन्थि-बन्धन हुआ है, जिसे न हम खोल पाते हैं, न काट पाते हैं। परिणामतः हमारे विकास के मार्ग को हमारी छाया ही अवरुद्ध कर रही है।

अतीत में हमारे देश ने अनेक अन्धकार के आयाम पार किये हैं, परन्तु इसके चिन्तकों, साधकों तथा साहित्य सृष्टाओं की दृष्टि के आलोक ने ही पथ की सीमाओं को उज्ज्वल रखकर उसे अन्धकार में खोने से बचाया है।

भाषा ही इस आलोक के लिए संचारिणी दीपशिखा रही है : **पावका न: सरस्वती।**

शिक्षा का उद्देश्य

भारत अपने भौगोलिक परिवेश में जितना विविध रूपात्मक है, सांस्कृतिक दृष्टि से उतना ही संश्लिष्ट। और उसके सांस्कृतिक मूल्य जीवन के लिए मंगलविधायक तथा आलोकवाही रहे हैं। जिन युगों तक इतिहास की किरणें नहीं पहुंच पातीं, उन युगों में भी भारत ने आचार्यकुलों को अपनी मूल्यात्मक उपलब्धियों का संरक्षक तथा अन्तेवासियों को उनका उत्तराधिकारी स्वीकार कर दोनों को समान महत्व दिया था।

जन्म से लेकर शिक्षा की समाप्ति तक व्यक्ति के निर्माण के लिए, जो जटिल, परन्तु गम्भीर संवेदनमयी व्यवस्था की शृंखला मिलती है, उसकी प्रत्येक कड़ी दीर्घ चिन्तन और परीक्षण का परिणाम है।

तत्कालीन दीक्षान्त अनुष्ठान ऐसी सन्धिवेला थी, जिसमें शिष्य की परीक्षा समाप्त और गुरु की परीक्षा का आरम्भ होता था। स्नातक में कुलगुरु का ज्ञान ही नहीं, उसकी महिमा भी संक्रमित होती थी। इसी से स्नातक अपने आचार्यकुल से ही पहचाना जाता था। उनमें अनेक कुलगुरु अपनी अत्यन्त क्रान्तिकारिणी जीवन-दृष्टि के लिए प्रख्यात थे और उनकी शिष्य परम्परा, समाज को गतिरुद्ध करने वाली रूढ़ियों को खण्ड-खण्ड करने का संकल्प लेकर कर्मक्षेत्र में प्रवेश करती थी।

सा विद्या या विमुक्तये : (वही विद्या है जो मुक्ति के लिए है) विद्या की उपर्युक्त परिभाषा से अधिक प्रगतिशील परिभाषा खोज लेना कठिन होगा।

शिक्षा-संस्थानों में राष्ट्र बनता है, अतः आश्चर्य का विषय है नहीं कि भारतीय मनीषा ने, प्रत्येक अतीत युग में, शिक्षा के क्षेत्र को विशेष सम्मान की दृष्टि से देखा तथा तत्कालीन शासन-व्यवस्था के नियन्त्रण से उसे मुक्त रखा।

सहस्रों वर्ष पूर्व की शैक्षणिक उपलब्धियों का आज क्या उपयोग है

यह जिज्ञासा भी स्वाभाविक है। यह निर्विवाद सत्य है कि हम अतीत युगों के जीवन और परिस्थितियों की आवृत्ति नहीं कर सकते। जब एक बीते क्षण, एक तीव्र संवेदन तक को लौटा लेना सम्भव नहीं है, तब सुदूर अतीत में जीने का प्रश्न कल्पनातीत है।

परन्तु मानव के अतीत, वर्तमान और भावी संवेदनों को संभालने वाला समय तो अखण्ड ही रहता है।

विकास-क्रम में एक युग का मानव-समूह अपने पूर्वजों से जो उत्तराधिकार पाता है, वह शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि दृष्टियों से विविध और उपयोग के परिप्रेक्ष्य में चिर नूतन ही रहता है। जब अतीत युगों के दर्शन कला, साहित्य आदि, भिन्न वर्तमानयुगीन परिस्थितियों में जीवन को समृद्ध कर सकते हैं, तब उन्हें जन्म देने वाली दृष्टि और सामाजिक संस्थाओं का ज्ञान भी उपयोगी हो सकता है।

विकासक्रम में यह सत्य और भी स्पष्ट हो जाता है। व्यापक अर्थ में विश्व का समस्त मानव-समूह एक परिवार है, परन्तु विभिन्न प्राकृतिक परिवेशों में विकास के कारण वह वर्ण, आकृति, संस्कार, जीवन-पद्धति आदि की दृष्टि से अनेक जातियों में विभाजित हो गया है।

अपने विशेष भौगोलिक परिवेश से रागात्मक लगाव, संस्कार-क्रम में उत्पन्न जीवन पद्धतियों की समानता आदि ही किसी मानव समूह को राष्ट्र की संज्ञा से अभिषिक्त करते हैं। नदी-पर्वत-समतल मात्र राष्ट्र नहीं बन जाते और न मानवों की विषम भीड़ ही राष्ट्र की गरिमा की अधिकारिणी हो जाती है।

वस्तुतः राष्ट्र शब्द से प्रबुद्ध चेतन, किन्तु स्वेच्छया एकताबद्ध मानव-समूह और उसका परिवेश दोनों का बोध होता है। माता भूमिः पुत्रोऽहम् पृथिव्याः (अथर्व०) से लेकर 'मुकुट शुभ्र हिमतुषार' तक जो भाव-समुद्र लहरा रहा है, उसका तट बनाने की क्षमता किसी युग को प्राप्त नहीं हो सकी है।

अनेक बौद्धिक उपलब्धियों के सम्बन्ध में भी यही सत्य है : वास्तव में किसी भी युग में जीवन अपने आपको धोई-पोंछी स्लेट के समान नहीं प्रस्तुत करता। उसमें अनिवार्यतः अनेक विगत युगों के भौतिक, मानसिक,

सामाजिक, आदि संस्कारों के चिह्न रहना स्वाभाविक है। जिन संस्कारों की रेखाओं में मानव-प्रगति का इतिहास निबद्ध है, उन्हें नवीन युग की परिस्थितियों से जोड़ कर हम अपने युगान्तर दीर्घ विकास की स्वर्णिम श्रृंखला में नवीन कड़ी जोड़ते हैं, उसे तोड़ते नहीं।

माला में चाहे मोती गुम्फित हों चाहे फूल, उन्हें संभालने का कार्य सूत्र ही करता है, जिसके टूटने पर वहुमूल्य और सुन्दर सव कुछ धूल में बिखर जाता है।

अपनी धरती की गहराई में जड़ें रखने वाले पौधे किसी भी दिशा से आने वाले पवन के उष्ण या शीतल झोंकों से खेल लेते हैं। वर्षा की झड़ी और कठिन धूप को भेंट लेते हैं। यदि वे अपनी धरती का आधार छोड़ दें तो न मलय समीर उन्हें जीवित रख सकेगा और न वर्षा का अमृत जल। धनुष पर बाण को सन्धान कर जब तक उसे पीछे कान तक नहीं खींचा जाता, तब तक उससे लक्ष्यवेध सम्भव नहीं होता। पीछे का पग धरती पर जमाये विना न आगे का उठाया जा सकता है और न एक डग आगे बढ़ा सकता है।

गत युगों की उपलब्धियों के प्रति उपेक्षा-भाव को, अपनी भावी प्रगति की शपथ मानकर हमने अपने आपको दिग्भ्रान्त ही किया है, क्योंकि बिना वर्तमान के अतीत गतिहीन है और अतीत से विच्छिन्न वर्तमान दिशा-निर्देशहीन हो जाता है।

मानव के सूक्ष्म मनोजगत से लेकर उसके प्रत्यक्ष कर्म तक जो परिष्कारक्रम आदिमयुग से चलता आ रहा है, वही मानव-संस्कृति है और यह समः कृति निर्मित वस्तु न होकर निर्माण-परम्परा ही रहती है।

ऐसी स्थिति में एक युग की उपलब्धियां दूसरे युग में संक्रमित होकर ही सार्थकता पाती हैं। इस संक्रमण क्रम के टूटने पर अनेक संस्कृतियां तिरोहित हो चुकी हैं, यह तथ्य इतिहास से प्रमाणित हो सकता है।

संस्कृति का स्वभाव मूल्यात्मक या घनात्मक ही होने के कारण उसे निषेधात्मक या ऋणात्मक रूप में अनुभव नहीं किया जा सकता। हम किसी भी सांस्कृतिक मूल्य को उसके अभाव में नहीं अनुभव करते। उदाहरण के लिए, हम सामाजिक मूल्य के रूप में सत्य का अनुभव कर सकते

हैं, परन्तु उसका अभाव, असत्य हमारे अनुभूति क्षेत्र से बाहर बुद्धि का विषय है।

संस्कृति के विकास-क्रम में प्राप्त मूल्य, नैतिक, सामाजिक, अध्यात्मिक, राजनीतिक आदि विविध क्षेत्रों में विभाजित होकर भी व्यक्ति और समष्टि की दृष्टि से एक संश्लिष्ट और व्यापक प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

इन जीवन मूल्यों के साथ अनेक मान्यताओं तथा प्रयोगजनित रूढ़ियों का संक्रमित हो जाना अनिवार्य है। अतः प्रत्येक युग में नवीन परिस्थितियों की कसौटी पर खरे उतरने पर ही वे अपने मूलरूप में प्रतिष्ठित हो पाते हैं।

भारत विशाल और पुरातन महादेश है। और उसकी सहस्रमुखी संस्कृति गंगोत्री के गोमुख से समुद्र तक प्रवाहित गंगा के समान अनेक धाराओं को समेटती रही है। उसे अन्धकार के ऐसे अनेक प्रहर पार करने पड़े हैं, जिनमें किसी जीवन-मूल्य तथा मान्यता की परीक्षा से अधिक आवश्यक उसका संरक्षण था। परिणामतः कहीं मूल्यवान खो गया, कहीं मूल्यहीन संरक्षित हो गया।

राष्ट्र-जीवन के जिन क्षेत्रों को कुछ मूल्यवान खोना पड़ा है, उनमें शिक्षा का क्षेत्र विशेष स्थिति रखता है। शिक्षा किसी भी राष्ट्र का मेरु-दण्ड कही जा सकती है। वह अतीत युगों की उपलब्धिओं तथा वर्तमान परिस्थितियों का सन्धि-स्थल ही नहीं, ऐसा आलोक भी है, जिसमें भविष्य की रूपरेखा निखरती और स्पष्ट से स्पष्टतर होती चलती है।

जिस प्रकार शरीर में हृदय सब अंगों को स्वस्थ रक्त पहुंचाने का कार्य करता है, उसी प्रकार शिक्षा-क्षेत्र समाज, शासन, विज्ञान, कला, साहित्य आदि सभी क्षेत्रों में नवीन प्रतिभाएं भेजता है। यदि शिक्षा-क्षेत्र द्वारा पहुंचाया गया नवीन रक्त स्वस्थ है, तो सभी क्षेत्र स्वस्थ और क्रिया-शील रहते हैं। यदि नवीन रक्त में व्याधियों के कीटाणु प्रवेश कर जाते हैं, तो राष्ट्र-जीवन के सभी क्षेत्र सांघातिक रूप से पीड़ित हो उठते हैं।

प्रबुद्ध राष्ट्र की जीवन-पद्धति में शिक्षा-क्षेत्र का उत्तरदायित्व विद्वानों, चिन्तकों और आचार्य कुलों पर रहता है।

शिक्षा क्षेत्र के अन्तःगठन में दो परस्पर पूरक पक्ष अनिवार्य हैं—

ज्ञातव्य, विषय या विद्या और उसका सम्प्रेषण या शिक्षा और उसके बहिर्गठन में गुरु, शिष्य, पाठ्यक्रम और परिवेश अन्योऽन्याश्रित महत्वपूर्ण स्थिति रखते हैं।

शिक्षा कमल के इन षट्दलों को संग्रथित रखने वाला कुड्मल भाषा है, जिसके अभाव में सब दल बिखर जाते हैं।

भारत के तत्वदर्शी चिन्तकों ने जीवन के किसी भी क्षेत्र या लक्ष्य को इतनी सावधानी से गठित नहीं किया है, जितनी शिक्षा क्षेत्र के गठन में मिलती है। कारण स्पष्ट है। इस क्षेत्र में मानव का दुहरा निर्माण होता है। अन्य क्षेत्रों में जब वह पहुंचता है, तब बुद्धि और हृदय से प्रबुद्ध और संवेदनशील सदस्य के रूप में प्रतिष्ठित होने योग्य बन चुकता है; परन्तु शिक्षा के क्षेत्र में वह समस्त अनगढ़ पशुवृत्तियों और मानवीय सम्भावनाओं के साथ ही प्रवेश करता है। उसकी पशुवृत्तियों को संयमित तथा मानवीय सम्भावनाओं को साकार बनाने का कठिन कार्य जहां होता है, उस क्षेत्र की उपेक्षा मानव समाज को बर्बरता की ओर लौटा देती है।

जीवन के गहन मूल्यकोश को भारतीय मनीषा ने विद्या नाम से अभिहित किया था। वेद के समान ही विद् (जानना) धातु से बनी यह संज्ञा, समय के बहुत से आंधी-तूफान पार कर आई है और मानव द्वारा अनेक सदुपयोग-दुरुपयोग के अमिट चिह्नों से चित्रमयी है। परन्तु तत्वतः यह जीवन की ऐसी मूल्यात्मक उपलब्धियों का प्रतीक रही है, जो मानव-संसृति की युगान्तर दीर्घ यात्रा में भी धूमिल न होकर अपनी दीप्ति से पथ को आलोकित करती रही है।

विद्या का लक्ष्य व्यष्टि और समष्टि दोनों को सामञ्जस्यसूत्र में बांध कर सम्पूर्णता देना है तथा शिक्षा हृदय और बुद्धि के परिष्कार और समन्वय द्वारा मानव को लक्ष्य तक पहुंचने की क्षमता प्रदान करती है।

ज्ञान से अधिक कठिन उसकी सम्प्रेषणीयता है, अतः शिक्षा का क्षेत्र ज्ञान की दोहरी और रहस्यमयी प्रयोगशाला बन जाता है। उसे व्यक्ति के अन्तर्जगत को सम्पूर्ण तथा मुक्त विकास भी देना पड़ता है और उसे समष्टि से सामञ्जस्यपूर्ण बन्धन में बांधना भी पड़ता है। उसे मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियों को परिष्कार और दिशा भी देनी पड़ती है और उसके

बहिर्जगत की समस्यायें भी सुलझानी पड़ती हैं।

इसी कारण चिन्तकों ने विद्या को परा और अपरा या परमार्थकरी और अर्थकरी में विभाजित कर, उसे लक्ष्यतः स्पष्ट से स्पष्टतर करना उचित समझा।

परा विद्या मानव के आत्मबोध तथा सहजात प्रवृत्तियों के ऊर्ध्वगमन का माध्यम है और अपरा उसकी लौकिक स्थिति में विकास का साधन।

परमार्थकारी विद्या से मानव की मानसिक वृत्तियों के उदात्तीकरण का बोध होता है और अर्थकरी उसे लौकिक दृष्टि से जीवनयापन के लिए उपयुक्त और सन्तुलित विकास देती हैं।

मानव प्रकृति तत्वतः नैतिक है। हम पशुविशेष को बल से विवश करके अपना इच्छित आचरण सिखा सकते हैं, परन्तु उस क्रिया की असंख्य आवृत्तियां कर के भी पशु न उसमें सुख का अनुभव करने में समर्थ है और न स्वतन्त्र होने पर वैसा आचरण करेगा। सर्कस में अनेक प्रकृत्या हिंस्र अहिंस्र जीव साथ रहकर सिखाये हुए आचरण के अनुसार कार्य करते हैं, परन्तु इससे उनकी वृत्तियों में कोई अन्तर नहीं आता।

मानव की विकास-गाथा इससे भिन्न है। उसमें तत्वगत नैतिक प्रकृति के जागरण के साथ एक असीम आनन्द उद्वेलित हो उठता है, जिसे हम, आस्था, सौन्दर्यबोध, और समष्टि में अपने आपको विसर्जित करने की इच्छा कह सकते हैं। समष्टि के साथ अनुभव करने, विचार विनिमय करने और उससे एकात्म होने की इच्छा ही, मानव जाति के धर्म, दर्शन, साहित्य, कला आदि की जननी रही है।

एकोऽहम् बहुस्याम — मैं एक हूं अनेक हो जाऊंगा, ब्रह्म के लिए कहा गया वाक्य मनुष्य के लिए भी सत्य है। यह इच्छा मनुष्य के सीमित व्यक्तित्व की समष्टिगत असीमता है।

शिक्षा अपने सीमित अर्थ में जीवन के लिए तैयारी मानी जा सकती है, परन्तु व्यापक अर्थ में वह जीवन का चरम उद्देश्य ही रहेगी। इन सीमित और व्यापक अर्थों में कोई अन्तर्विरोध सम्भव नहीं है, क्योंकि सीमित, व्यापक अर्थ में अन्तर्भूत रहता है। मनुष्य व्यापक समष्टि का अंग और विश्व नागरिक होकर भी किसी देश विशेष का नागरिक और समाज

विशेष का अंग होता है और इस नाते विशेष कर्त्तव्यों तथा अधिकारों से घिरा रहता है। विसंगति तब उत्पन्न होती है, जब शिक्षा निरुद्देश्य तैयारी मात्र रह जाती है, क्योंकि वह परिणामहीन क्रियाशीलता है।

जिस प्रकार नींव की कम्पन के साथ समस्त भवन हिल जाता है, उसी प्रकार उद्देश्य या लक्ष्य की अस्थिरता से शिक्षा के सभी सोपान अस्थिर हो जाते हैं। शिक्षा के उच्च स्तर पर लक्ष्यहीनता का परिणाम अधिक सांघातिक हो, यह स्वाभाविक है। शैशव में व्यक्तित्व अविकसित रहता है, अतः लक्ष्य के प्रश्न अनदेखे कर दिए जाते हैं, किशोरावस्था में व्यक्तित्व निर्माण के क्रम में रहता है, अतः उसकी परिणति के सम्बन्ध में विचार नहीं किया जाता, परन्तु कर्मक्षेत्र के प्रवेशद्वार पर जब शरीर से अस्वस्थ और मन से हताश तरुण पहुंचता है, तब जीवन और समाज दोनों की स्थिति संकटापन्न हो जाती है।

हमारे महादेश को पराजय की तमिस्रा के दीर्घ युग पार करने पड़े हैं और इस अभिशप्त यात्रा में उसने जीवन के लिए आवश्यक पाथेय का जो मूल्यवान अंश खोया है वह शिक्षा का दर्शन है। यह निर्विवाद है कि कोई भी विजेता विजित देश पर शासन-मात्र का अधिकार प्राप्त कर सन्तुष्ट नहीं होता। वह विजित पर सांस्कृतिक विजय भी चाहता है, जिसका सहज पर अव्यर्थ माध्यम शिक्षा ही रहती है। परशासित देश में शिक्षा का उद्देश्य वही नहीं हो सकता, जो स्वशासित देश के लिए आवश्यक है।

स्वशासित देश को अपनी सांस्कृतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि मूल्यात्मक निधियों के लिए उपयुक्त उत्तराधिकारियों का निर्माण करना होता है और परतन्त्र देश के परशासकों को अपनी स्थिति यथावत बनाए रखने के लिए आवश्यक सहायक, दोनों स्थितियों में शिक्षा लक्ष्यतः और कार्यतः और परिणामतः भिन्न हो तो आश्चर्य नहीं।

भावी नागरिक के व्यक्तित्व का ऐसा विकास, जिसमें उसका स्वाभिमान, राष्ट्र-भावना, अन्याय के विरुद्ध संघर्ष की इच्छा आदि विशेषताएं विकसित हो सकें, स्वतन्त्र देश के लिए उपयोगी हो सकता है। किन्तु विजेता शासकवर्ग के लिए शासितों की नई पीढ़ी का ऐसा विकास अस्त्र शस्त्रों से अधिक शंकाजनक है, क्योंकि वह विकास विजेता की निर्णीत

जय को अनिर्णीत करने और उसे पराजय में बदलने की शक्ति रखता है।

भारत में स्वतन्त्रताप्राप्ति के उपरान्त भी शिक्षा के क्षेत्र में लक्ष्यतः और कार्यतः परिवर्तन नहीं किया जा सका, परिणामतः आज निर्माण की बेला में वही क्षेत्र अधिक अशान्त, अस्थिर और विघटनशील है।

आधुनिक युग में छात्रवर्ग का असन्तोष विश्व-व्यापक हो गया है, परन्तु उसके देशज कारणों और परिस्थितियों में अन्तर है। जिन देशों में शरीर मुक्त हैं, पर मन बन्धन में है वहां भी, और जहां मन मुक्त हैं, पर शरीर पर कठिन नियन्त्रण है वहां भी, शिक्षा का क्षेत्र ही हलचलों का केन्द्र है। कहीं सामाजिक बन्धन टूटते हैं, कहीं मानसिक नियन्त्रण शिथिल होता है, किन्तु टूटने के क्रम में निरन्तरता है।

स्पष्ट ही मानव के अन्तर्जगत में कुछ नवीन जन्म ले रहा है, जिसकी पीड़ा नई पीढ़ी को अधिक अशान्त कर रही है। सामान्यतः यह पीड़ा देश विशेष की परिस्थितियों से उसी प्रकार रंग-रूप पाती है, जैसे कांच के रंगीन पात्र में भरा जल अपने आधार से आकृति और रंगमयता ग्रहण करता है।

कभी-कभी इस नियम में अपवाद भी देखा जा सकता है। अमेरिका जैसे भौतिक दृष्टि से सर्व सुविधा-सम्पन्न और वैज्ञानिक दृष्टि से अग्रगामी देश के पचास लाख के अधिक उच्चस्तरीय छात्रों की अशान्ति, केवल भौतिक सुविधाओं के अभाव से उत्पन्न नहीं कहीं जा सकती।

तत्वतः आज का युग प्राचीन और नवीन जीवन मूल्यों की ओर मान्यताओं की संक्रान्ति का, टकराहट का है।

विज्ञान ने एक नवीन प्रकृति-धर्म की प्रतिष्ठा की है, जिसके कारण विश्व एक हो गया है। राजनीतिक विचारधाराओं ने एक नए नीतिशास्त्र का निर्माण किया है, जिसके कारण विश्व लघु खण्डों में विभाजित होता जा रहा है। दोनों में संगति या समन्वय की स्थिति अभी उत्पन्न नहीं हो सकी है। उसे जीवन का उच्चतर लक्ष्यबोध ही सम्भव कर सकता है, जिसकी अभी खोज ही आरम्भ नहीं हुई।

जहां तक भारत के छात्रवर्ग का प्रश्न है, वह सामाजिक ही नहीं, मनो-

वैज्ञानिक संक्रान्ति के मध्य में है। उसके व्यक्तित्व की बाह्य और अन्तः स्थिति इतनी विघटित है कि उसमें निर्माण की प्रेरणा जगाना दुष्कर नहीं तो कठिन अवश्य है।

आज के छात्र या स्नातक ने स्वतंत्रता के आलोक में आंखें खोली थीं और जीवन की धड़कन के साथ ही भारत का जयगान सुना था। उसकी आशाएं, कल्पनाएं पूर्व पीढ़ी से भिन्न हों, तो इसे स्वाभाविक ही माना जाएगा। पिछली पीढ़ी ने दासता का अभिशाप झेला था; उसकी आशाओं और कल्पना में सफलता का अन्तिम बिन्दु और एकमात्र केन्द्र विदेशियों के शासन से मुक्त होना मात्र था। स्वतन्त्र होने के उपरान्त पूर्व केन्द्रों से मुक्त दृष्टि कुछ कुतूहल से नवीन केन्द्र की खोज में ही भटकती और थकती रही। लौह बेड़ियां कट जाने पर भी पैर पर उसके चिह्न नहीं कट जाते और वे दाग ही प्रायः मुक्त बन्दी की बन्धनजनित वेदना की कथा कहते रहते हैं। पिछली पीढ़ी के साथ भी यही घटित हुआ।

उसने न मानसिक दासता से मुक्ति पाई, न मुक्ति पाने को आवश्यक समझा। इसके विपरीत वह मुक्ति के प्रमाण में अतीत बन्धन के चिह्नों के प्रदर्शन करती रही। नवीन पीढ़ी ने इस स्थिति को पहले कुतूहल से देखा फिर जिज्ञासा से और अन्त में विरोध व्यक्त किया।

छात्रवर्ग के असन्तोष के अनुमानित कारण कई हैं। यह भी कहा जाता है कि शिक्षा के क्षेत्र में अशान्ति का कारण, वे पिछड़े वर्ग के विद्यार्थी हैं, जिनके परिवारों में शिक्षा सम्बन्धी कोई संस्कार नहीं था और जो अब तक शिक्षा से वंचित थे। छात्र आन्दोलन का कारण, शिक्षा के उपरान्त जीविकोपार्जन का कोई साधन प्राप्त न होना है, यह विश्वास भी सकारण है।

राजनीतिक दलों की प्रेरणा छात्रों के असन्तोष के मूल में है, यह भी प्रचलित मान्यता है। जीवन की मान्यताओं और मूल्यों में परिवर्तन ही छात्रवर्ग को अशान्त कर रहा है, यह भी चिन्तकों का निष्कर्ष है।

इन सभी अनुमानों में आंशिक सत्य है, सम्पूर्ण नहीं, क्योंकि ऐसे सामूहिक असंतोष अनेक प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष, अन्तःबाह्य परिस्थितियों की विषमता के परिणाम होते हैं। ये विषमताएं तत्काल विस्फोट रूप नहीं पा लेतीं।

जैसे भूकम्प के पहले पृथ्वी के गहरे अन्तराल में ज्वाला-जल की विषम स्थितियां उत्पन्न होकर बल प्राप्त करती रहती हैं, वैसी ही मानव समष्टि के असन्तोष की कथा है। उसका कारण न एक स्थिति है, न एक विषय। लोकतन्त्र की सफलता का आधार शिक्षा है, जिसके अभाव में जनसमूह को प्रबुद्ध करना सम्भव नहीं होता। इस दृष्टि से भारत ने, जिसमें शिक्षा की परम्परा प्राचीन और उज्ज्वल रही है, शिक्षा के प्रसार की दिशा में अधिक प्रयत्न नहीं किया है।

स्वतन्त्रता के बीस वर्षों में शिक्षा की जो प्रगति हुई है, उसमें किसी प्रदेश में विद्यार्थियों की संख्या में 6 प्रतिशत, किसी में 8 और किसी में 9 प्रतिशत वृद्धि हुई है। समय का विस्तार देखते हुए और अन्य स्वतन्त्र देशों की शिक्षण व्यवस्था की तुलना में यह वृद्धि आशाजनक नहीं कही जा सकती। अब भी 77 से 88 प्रतिशत के लगभग शिक्षा पाने योग्य किशोर वर्ग उससे वञ्चित है।

पिछड़े वर्ग से आनेवाले और शिक्षासंस्कार से रहित विद्यार्थी ही शिक्षाव्यवस्था में अराजकता के कारण हैं, यह धारणा भी सत्य से दूर है। वास्तव में पिछड़े वर्ग के विद्यार्थी को दोहरा परिश्रम करना पड़ता है। उच्चवर्ग के विद्यार्थी कम शिक्षित और कम मेधावी होने पर भी संस्कृति सम्भ्रान्त माना जाता है। पिछड़े वर्ग के विद्यार्थी को अपने आपको संस्कृत कहलाने के योग्य भी बनाना पड़ता है और अच्छा विद्यार्थी भी प्रमाणित करना पड़ता है। उसे छात्रवृत्ति सम्बन्धी कुछ सुविधाएं भी प्राप्त हैं और उत्तीर्ण होने पर आजीविका के लिए बहुत भटकना भी नहीं पड़ता। उसने अपने जीवन का स्तर भी इतना उन्नत नहीं बना लिया कि वह दुर्वह हो जावे।

बालिकाओं के शिक्षा क्षेत्र में प्रवेश को भी ऐसी ही शंका की दृष्टि से देखा गया था; क्योंकि उनकी युगान्तर दीर्घ दोहरी दासता में शिक्षा के संस्कार भी मिट गए थे। परन्तु उन्होंने अपने सुविधासम्पन्न सहपाठियों से अधिक कठिन श्रम करके समता ही नहीं श्रेष्ठता भी प्राप्त कर ली। वस्तुतः वर्तमान युग पीड़ितों और गिरे हुओं का है और वह वर्ग जब उठता है तब उसका वेग शिलाएं तोड़कर निकलनेवाले निर्झर के समान अप्रतिहत गति

होता है।

शिक्षा के उपरान्त भी आजीविका के प्रश्न का समाधान न पाना और इस स्थिति के लिए समाज द्वारा उसी को दोषी ठहराया जाना, विद्यार्थी की उद्भ्रान्ति का विशेष कारण है। पहले प्राविधिक शिक्षा के उपरान्त उत्तीर्ण विद्यार्थी को बेकारी का अभिशाप नहीं झेलना पड़ता था; परन्तु अब वे भी सैकड़ों की संख्या में निष्फल भटकाव की स्थिति में हैं।

भविष्य के सम्बन्ध में आश्वस्त किए बिना विद्यार्थी वर्ग के असन्तोष का उपचार न सम्भव है न सुकर।

जहां तक राजनीतिक विचारधाराओं का प्रश्न है, उससे न आज के विद्यार्थी को अपरिचित रखा जा सकता है न दूर, क्योंकि वे भावी शासन व्यवस्था सम्बन्धी स्वप्नों की प्रयोगात्मक कसौटी हैं। परन्तु यदि विद्यार्थी की प्रतिभा और उसके कृतित्व को उसकी रुचि के अनुसार दिशा और लक्ष्य प्राप्त हो सके तो वह राजनीति में सक्रिय भाग लेने को आवश्यक न समझेगा। यह प्रश्न विद्यार्थी जीवन में नहीं, कर्मक्षेत्र में प्रवेश के अवसर पर उठेगा और तभी उसका समाधान समाज के लिए हितकर होगा। उससे पहले विद्यार्थी की रुचि की दिशा और उस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए आवश्यक साधन ही महत्वपूर्ण रहते हैं। यदि किसी की रुचि या प्रवृत्ति की दिशा, विज्ञान या साहित्य या कला है और उसे अपनी सृजनात्मक शक्ति के विकास के लिए इच्छित अवकाश प्राप्त हो जाता है, तो वह सक्रिय राजनीति के क्षेत्र में असमय प्रवेश को समय का दुरुपयोग ही मानेगा।

राजनीति के संघर्ष-क्षेत्र में जो व्यक्ति विद्यार्थी वर्ग का अस्त्रशस्त्र के रूप में उपयोग करते रहते हैं, उन्हें भी समष्टि के हित में अपनी कार्य-प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव हो सके, तो इस समस्या का समाधान खोजना सहज हो जाएगा।

इन सब समस्याओं से कठिन समस्या शिक्षा के अन्तःस्वरूप तथा माध्यम से सम्बन्ध रखती है। मातृभाषा ही शिक्षा का उचित माध्यम हो सकती है, इस निष्कर्ष पर विश्व के सभी शिक्षाशास्त्री एकमत हैं।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भाषा का प्रश्न संस्कृति से तथा राष्ट्र-भावना से सम्बद्ध रहता है, विशेषतः भारत जैसे महान देश के लिए जो सांस्कृतिक

दृष्टि से महान होने पर भी राष्ट्र की दृष्टि से पराधीन रह चुका है।

मात्र उपयोगिता की दृष्टि से भी भारत के भावी नागरिक के निर्माण में विदेशी भाषा बाधक ही सिद्ध होती है। हमारे विद्यार्थी वर्ग में 90 प्रतिशत अंग्रेजी में अनुत्तीर्ण होते हैं और अधिकांश उक्त माध्यम से न किसी विषय को तत्वतः समझ पाते हैं और न व्यक्त करने में समर्थ होते हैं।

भाषा का सम्बन्ध मानवीय संवेगों से, मन से बहुत गहरा होने के कारण विद्यार्थी के व्यक्तित्व का जैसा संश्लिष्ट विकास अपेक्षित रहता है, वह असम्भव हो जाता है। अपने आपको व्यक्त न कर सकने की कुण्ठा से अधिक दयनीय कुण्ठा मननशील प्राणी के लिए अन्य नहीं हो सकती और जब इस मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति कर्म में होती है, तब वह ध्वंसात्मक प्रवृत्ति को ही प्रत्यक्ष कर सकती है।

भाषा मानव के व्यष्टिगत व्यक्तित्व की अंग है और समष्टिगत व्यक्तित्व का भी। अतः उसे जीर्णशीर्ण परिधान के समान उतार फेंकने का प्रयत्न असफल तो रहता है ही, वह व्यष्टि और समष्टि के सम्बन्ध भी विषम कर देता है, सारे देश के लिए कभी किसी विदेशी भाषा को सीखना सम्भव नहीं होता, परन्तु वह अपनी भाषा को जीवन के साथ ग्रहण कर लेता है।

मानव की आदिम अवस्था का उल्लास, पीड़ा, विस्मय आदि ध्वनियों से जन्म पाकर भाषा उसके उदात्त और गूढ़ भावना-विचार तक जैसा विस्तार पा गई है, यह एक युग का कार्य नहीं है। अवश्य ही भाषा में परिवर्तन हुए हैं, परन्तु वे नदी के मोड़ों के समान हैं, नदी का अन्त नहीं। तटों और तरंगों की नवीनता नदी की अबाध गति के लिए है, उसे खण्ड-खण्ड करने के लिए नहीं।

'अहम् राष्ट्री संगमनी वसूनाम', (मैं राष्ट्र की शक्ति हूं, उसे समृद्धि से संयुक्त करती हूं) ऋग्वेद के इस वाक्-परिचय का प्रमाण भारत से अधिक अन्य देशों ने दिया है, जिनकी भाषाप्रीति उनकी राष्ट्रनीति का आवश्यक अंग है।

इजराइल जैसे छोटे देश ने हिब्रु जैसी कठिन और प्राचीन भाषा को,

भावनात्मक दृष्टि से ही अपनी राष्ट्रभाषा स्वीकार किया है। जापान जैसे लघु पर प्रबुद्ध देश ने विज्ञान जैसे जटिल क्षेत्र के लिए भी अपनी भाषा का प्रयोग उपयुक्त समझा है। सद्यः स्वतन्त्र और भौगोलिक दृष्टि से लघु देशों ने भी दूसरे देशों की सम्पन्न भाषाओं की तुलना में अविकसित अपनी भाषाओं को अंगीकार किया है, बहुभाषा-भाषी महादेशों ने भी अपने राष्ट्र-व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के लिए अपनी ही किसी सहज व्यापक भाषा को चुना है। उदाहरण के लिए हम 47 भाषाओं की स्थिति संभालने वाले रूस और उसकी राष्ट्रभाषा रूसी को देख सकते हैं।

भारत भी बहुभाषा-भाषी महान राष्ट्र है और उसकी सभी भाषाएं समृद्ध हैं, परन्तु उसकी पराधीन स्थिति में भी जनमानस को सांस्कृतिक दृष्टि से संश्लिष्ट रखने में हिन्दी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

आज भी गंगा-यमुना के संगम तीर्थ पर रामेश्वरम्, कन्याकुमारी, पुरी आदि के सागर तटों पर प्रायः एक छोटा भारत ही बस जाता है, जिसके समस्त आदान-प्रदान के लिए हिन्दी ही माध्यम का कार्य करती है।

सांस्कृतिक दृष्टि से नहीं, संवैधानिक दृष्टि से भी हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा के पद पर अभिषिक्त है और प्राणप्रतिष्ठा के उपरान्त मूर्ति को खण्डित करना आस्था को भी खण्डित करना हो जाता है।

राष्ट्रभाषा के साथ भारत की अन्य प्रादेशिक भाषाओं का गौरव भी सम्बद्ध है। जिस प्रकार सम्पूर्ण शरीर को महत्वहीन मानकर अंगविशेष को महत्वपूर्ण सिद्ध करना सम्भव नहीं है, उसी प्रकार राष्ट्रप्रतिमा या उसकी समग्र अभिव्यक्ति को गौरव न देकर उसे खंडशः गौरव देने का प्रश्न कल्पना मात्र है। वस्तुतः समग्रता से विच्छिन्न अंग स्वयं को निर्जीव और समग्रता को विकलांग बना देता है।

लेकिन टूटे दर्पण-खंडों में अपना मुख भी खण्डित दिखाई देता है, परन्तु इसलिए देखनेवाला अपने मुख को खंडित नहीं कर लेता। समुद्र में बननेवाला मेघ उसके क्षार को साथ नहीं लाता।

भारतीय संस्कृति और नारी

संस्कृति शब्द का उपयोग इतने सन्दर्भों तथा इतने अर्थों में होता आ रहा है कि उसकी एक परिभाषा देना दुष्कर नहीं तो कठिन अवश्य हो गया है।

प्रायः भारतीय 'संस्कृति' शब्द अंग्रेजी के 'कल्चर' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है, परन्तु, तत्वतः वह कल्चर का पर्याय नहीं है। कल्चर विज्ञान के उन प्रयोगों के लिए भी व्यवहृत होता है जो कृषि, जीवाणु-संवर्धन आदि में किए जाते हैं। वैज्ञानिक जंगली चार छोटी पंखुड़ियों वाले गुलाब को कल्चर करके उद्यान का बड़ा अनेक दलों वाला गुलाब बना सकता है, किसी वृक्ष की डाल पर दूसरे मित्र वृक्ष की कलम लगा कर दो प्रकार के फल या दो रंग के फूल खिला सकता है। कल्चर करके रोग विशेष के विषाणुओं के सम्बन्ध में नवीन तथ्य प्राप्त कर सकता है।

परन्तु संस्कृति मानव चेतना का ऐसा विकास क्रम है, जो उसके अन्तरंग तथा बहिरंग को परिष्कृत करके विशेष जीवन पद्धति का सृजन करती है।

यह विकास-क्रम देश-काल को विभाजित नहीं करता, परन्तु देशकाल अपने घटनाक्रम के लेखे-जोखे के लिए इसे खण्डों में बांटकर देखता है। जैसे नदी तट की विविधता का विभाजन नहीं करती, पर तटों की भिन्नता ही उसे अपने उपयोग की दृष्टि से भिन्न संज्ञा देती है वैसे ही मानव के संस्कार-क्रम की गति है।

वस्तुतः संस्कृति मानव चेतना की प्राकृतिक ऊर्ध्वगति का प्रकाशन है। मानव के अन्तर्भूत और प्रसुप्त विशेषताओं की परिष्कृति और अभिव्यक्ति है। न वह ऐसे प्रयोगों में है जिनमें से अनेक व्यर्थ सिद्ध होते हैं और न किसी विजातीय तत्व का आरोपण, जिसे सुविधानुसार उतारा जा सकता है।

सभ्यता और संस्कृति शब्दों में भी अर्थ भेद है। सभ्यता मानव के

बाह्य आचरण से सम्बन्ध रखती है क्योंकि उसका मूल अर्थ सभा की सदस्यता में निहित है, अन्तर्जगत के संवेगों में नहीं। व्यवहार में सभ्य व्यक्ति का अन्तर्जगत असंस्कृत हो सकता है, परन्तु अन्तर्जगत में संस्कृत व्यक्ति बाह्य रूप में भी असभ्य नहीं हो सकता।

वैसे तो विकास जैवी सृष्टि का स्वभाव ही है, किन्तु मनुष्य का विकास उसकी अनेक अन्त: बाह्य प्रवृत्तियों के कारण रहस्यमय तथा जटिलतम हो गया है।

सृष्टि में अचेतन, चेतन, अवचेतन तथा पराचेतन सभी प्रकार की चेतनाओं की भिन्न-भिन्न स्थितियां हैं; परन्तु मानव में चेतन, अवचेतन तथा पराचेतन एक साथ हैं, अतः वह चेतना का विविध विकासात्मक एक रूप है। पशु-पक्षी जगत के समान उसे प्रकृति से सहज चेतना भी मिली, परन्तु उसके मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार का संघात अन्तःकरण भी है जिसके द्वारा वह प्रकृतिदन्त प्रवृत्ति को कभी दमित और कभी संयमित करके इच्छानुसार दिशा भी दे सकता है और नया सृजन भी कर करता है।

उदाहरणार्थ आत्मरक्षा की प्रवृत्ति को देखा जा सकता है। प्रकृति ने आत्मरक्षा की सहज प्रवृत्ति जीवमात्र को दी है। मृत्यु और जीवन का अन्तर न जानते हुए भी पशु-पक्षी वधिक से डरते हैं, मृत्यु से आतंकित होते हैं।

मनुष्य ने इसी आत्मरक्षा की प्रवृत्ति को अपने अस्तित्व से परिवार, परिवार से ग्राम, ग्राम से देश तथा देश से विश्वरक्षा तक फैलाकर एक नवीन जीवन मूल्य का निर्माण कर लिया हैं। वह अपने निर्मित जीवन मूल्य के लिए मृत्यु को स्वयं चुनौती देता है।

चेतना से उसने अपने शरीर को अधिक से अधिक साहसिक कार्य के योग्य बनाया, समाज का निर्माण किया और भौतिक तथा मानसिक अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन खोज लिए। उसके अवचेतन ने उसकी सुख-दुखात्मक अनुभूतियों, संवेगों के संस्कार इस प्रकार संचित किये कि वे अप्रत्यक्ष रूप से उसके जीवन को शक्ति दे सकें। उसकी पराचेतना ने जीवन की रहस्यमयता, की ही शोध नहीं की, उसके कारण और समाधानों को भी खोजा और सृष्टिकर्त्ता के रूप में विश्व में व्याप्त चेतनापुंज से

ईश्वर का भी सृजन किया।

संस्कृति, उसकी चेतना की खोज और उपलब्धियों का लेखा है। इस प्रकार संस्कृति मानव मात्र का दाय भाग होने के कारण विश्व भर की है, परन्तु देश काल जनित भेद तथा प्राकृतिक परिवेश की भिन्नता के कारण उसमें अनेक अन्तर तथा बाह्यभेद-प्रभेद हो गए हैं। ये भेद-प्रभेद उसकी समाज-रचना, धर्म, नीति, साहित्य-कला, शासन आदि में व्यक्त होकर भिन्न संज्ञायें पाते हैं।

बाह्य जगत से क्रिया-प्रतिक्रिया का माध्यम मानव शरीर ही रहता है, अतः क्रिया-प्रतिक्रिया के बाह्य साधन मनुष्य की कर्मेन्द्रियां तथा उसके प्रभाव को आन्तरिक रूप से ग्रहण करने के साधन ज्ञानेन्द्रियां ही हैं। इस प्रभाव से उत्पन्न अनुभूति हृदय की तथा बोध बुद्धि की दास है। बुद्धि या हृदय का कार्य युगपत अर्थात् एक साथ होता है—पैर में चुभे कांटे की झलक हृदय से तथा पैर हटाने का आदेश मस्तिष्क से सम्बन्ध रखता है। इस दोहरी क्रिया पद्धति से प्राप्त निष्कर्ष ही मानव चेतना में एक संस्कार जगत का निर्माण करते रहते हैं, इससे रस पाकर मनुष्य की स्मृति, अनुमान, कल्पना, भावना आदि समाज, दर्शन, साहित्य आदि में परिणत होकर जिस जीवन पद्धति का निर्माण करते हैं, हम उसी को संस्कृति की संज्ञा देते हैं।

जहां प्राकृतिक परिवेश से मानव का संघर्ष घोरतम दुःखद है, वहां यह जीवन पद्धति एक आक्रामक तथा सतर्क रक्षापरक रूप ले लेती है जैसा कि मरुभूमियों में पनपी संस्कृतियों से स्पष्ट है। किन्तु जहां यह परिवेश अपने जीवनोपयोगी अवदान तथा सौन्दर्य से मानव समूह को किसी कठिन संघर्ष के लिए बाध्य नहीं करता, वहां जीवन पद्धति सहज, उदार और स्नेहमयी बन जाती है, जिसका उत्कृष्ट उदाहरण भारतीय संस्कृति है।

पृथ्वी सभी मानव समूहों की जन्मदात्री है, किन्तु जहां क्षण भर की असावधानी से बालू का निर्मम बवण्डर मनुष्य को बालू का निर्जीव टीला बना सकता है और बूंद भर जल के लिए यात्री को तप्त धरती पर मीलों दौड़ना पड़ता है, वहां मानव धरती को माता की संज्ञा नहीं दे सकता।

जिस भूखण्ड की धरती अपने अजस्रदान से मानव को माता के अंक का कोमल स्नेहिल स्पर्श देती है, वही 'माता भूमिः पुत्रो हम् पृथिव्या' कही

जा सकती है।

भारतीय संस्कृति भारत की सुजला सफला मलयजशीतला धरती पर विकसित होने के कारण न अनुदार हो सकी है न आक्रामक। उसने मनुष्य के सूक्ष्म विचार से लेकर स्थूल कर्म तक को एक ऐसे स्वर्णिम सूत्र में बांधा है, जिसमें जीवन के सार्वभौम विकास देने वाले सभी मूल्य पिरोये जा सकें। संस्कृत मानव की संज्ञा पाने के लिए उसे अन्तः बाह्य परिष्कार के सभी आयाम निष्ठापूर्वक पार करने पड़ते हैं।

भारत की धरती कहीं तुषार किरीटिनी, कहीं सुमन खचित हरितांचला, कहीं मुक्ताभ तरंगमालिनी है। उसके विविध रूपी सौन्दर्य को आख्यात करने के पहले भारतीय पुरुष ने अपने पार्श्व में खड़ी नारी के सौन्दर्य को नहीं देखा होगा, यह मान लेना कठिन है।

भारतीय संस्कृति का सौन्दर्यबोध नारी रूप से अविच्छिन्न सम्बन्ध से जुड़ा हुआ है, यह कहना अतिशयोक्ति न होकर तथ्य कथन ही होगा।

यदि विश्व इतिहास पर दृष्टि डाली जावे तो सभी प्राचीन संस्कृतियों में नारी के देवी रूप की प्रतिष्ठा मिलेगी। मिस्र की भेंट, यूनान की एथोस, एफ्रोदिती, डायना, मिनर्वा, भारत की उषस अदिति अदि इसी तथ्य के प्रमाण हैं।

सम्भवतः इसका कारण मातृशक्ति की रहस्यमयता रही होगी। आदिम युगों में जब मानव समूह ने समाज, विवाह संस्था आदि का निर्माण नहीं किया होगा, तब समूह की, मातृसत्ता स्थिति हो रही होगी। जन्मदात्री ही पुरुष पुत्र का एकमात्र परिचय तथा जन्म ही सबसे रहस्यमयी घटना रहा होगा। ऐसी स्थिति में नारी को गूढ़स्थमयी शक्तियों से सम्पन्न मान लेना स्वाभाविक ही कहा जाएगा।

आर्य संस्कृति से पूर्व हमें जो सिन्धु घाटी और मोहनजोदड़ो में तत्कालीन सभ्यता के अवशेष प्राप्त हुए हैं उनमें मातृदेवी की मूर्ति भी है। उससे ज्ञात होता है कि भारत में आर्य सभ्यता के पूर्व भी नारी को रहस्यमयी शक्ति ही माना गया था।

यह भी तथ्य है कि अनेक देशों की संस्कृति में पशु और नारी में आत्मा की स्थिति ही नहीं स्वीकार की गई। पर भारतीय संस्कृति ने नारी

के आत्मरूप को ही नहीं उसके दिव्यात्म रूप को ऐसी प्रतिष्ठा दी जो देश काल के परिवर्तनक्रम में परिवर्तित होते-होते ही तत्वत: अपने मूलरूप में अब तक भारतीय जीवन पद्धति में महत्वपूर्ण स्थान रखती है।

यदि केवल जन्म देने की रहस्यमयता ही स्त्री के महत्व का कारण होती तो उसका तत्वत: पूजाई रूप प्राणिशास्त्र के विज्ञान के विकास की चकाचौंध में खो जाता। किन्तु उसका दिव्यात्मा रूप भारतीय संस्कृति में अनेक रूपों में स्थिति रखता है—भारतमाता के रूप में, राष्ट्रीयता में, प्रकृति के रूप में, सांख्यदर्शन में, माया के रूप में, वेदान्त दर्शन में, शक्ति के रूप में, तन्त्र साधना में, राधा-सीता के रूप में, सगुणोपासना में, ब्रह्म की अंशभूत प्रेयसी आत्मा के रूप में निर्गुण साधना में, अत: उसे भारतीय संस्कृति के विकासक्रम से भिन्न करके देखना असम्भव है।

प्रत्येक संस्कृति की प्रथम इकाई परिवार, द्वितीय समाज, तृतीय नगर, चतुर्थ राष्ट्र तथा पंचम विश्व है। वस्तुत: संस्कृति एकाकी व्यक्ति की न होकर समष्टि की होती है, अत: "एकोहम बहुस्याम" ही उसका मूल मंत्र है।

गृह के दो घटक हैं नारी और पुरुष, इसी से उन्हें दम्पति कहा गया है।

किसी देश या किसी युग में मानव समाज की बाह्य और आन्तरिक जीवन पद्धति जानने के लिए इन्हीं दो घटकों के परस्पर सम्बन्ध, कर्त्तव्य तथा अधिकारों पर दृष्टिपात अनिवार्य हो जाता है।

भारतीय संस्कृति का आदि स्रोत वेदकालीन जीवन पद्धति है, जो सहस्रों वर्षों की दूरी पर रह कर भी हमारे वर्तमान जीवन पर उसी प्रकार आलोक फेंकती है, जैसे करोड़ों मीलों की दूरी पर रह कर भी सूर्य अपनी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्थिति से हमारे दिन रात का कारण है। जिसे हम इतिहास कहते हैं वह घटनाओं का संकलन है, संवेगों तथा सज्जनित संस्कारों का नहीं। फिर प्रत्येक प्राचीन संस्कृति में बहुत-सा अंश ऐसा भी रहता है, जहां इतिहास की किरणें नहीं पहुंच पातीं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक भूखण्ड का मानव जीवन अनेक अलिखित संस्कारों से संचालित होता है लिखित इतिहास से नहीं।

आज भी हमारा जीवन विश्वासों में साहित्य कला आदि की मूलभूत प्रवृत्तियों में, राष्ट्र भावना में, जातकर्म, विवाह आदि सामाजिक क्रियाओं में उतना ही अतीत के निकट पहुंच जाता है, जितना उससे दूर है।

नदी ज्यों-ज्यों उद्गम से दूर होती जाती है त्यों-त्यों उद्गम अलक्ष्य होता जाता है। नदी को नये-नये सम-विषम, हरीतिमामय और सिकतामय तट मिलते हैं, नये मोड़ मिलते हैं, ग्राम और निर्जन वन पार करने पड़ते हैं, परन्तु अलक्ष्य उद्गम से उसका सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होता। प्रत्युत अलक्ष्य उद्गम पर उसकी गति निर्भरता और अधिक बढ़ जाती है। और यदि किसी बाधा से यह अलक्ष्य टूट जाता है तो नदी या तो सूख जाती है या सीमाओं में बंध कर सरोवर या पोखर बन जाती है। यह स्थिति तब आती है जब उद्गम में अगम ऊंचाई और अटल गहराई न हो, जिससे वह निरन्तर नया जल पहुंचा सके।

अनेक प्राचीन संस्कृतियां इसी कारण लुप्त हो गईं। भारतीय संस्कृति में ऐसी स्थिति नहीं उत्पन्न हुई क्योंकि उसका उद्गम जीवन मूल्यों की दृष्टि में उन्नत भी है और भावबोध की दृष्टि से गहरा भी।

वेदकालीन संस्कृति में हमें नारियों के दो रूप मिलते हैं—दिव्य देवी रूप तथा सामाजिक।

दिव्य रूप के भी तीन प्रकार हैं, एक में प्रकृति के व्यापक दिव्य रूप की देवियां हैं जैसे उषस्, सूर्या, रात्रि आदि। दूसरे में पृथ्वी, सिन्धु, सरस्वती नदी आदि में चेतना का आरोप करके उनके नारी रूप की कल्पना की गई है। तीसरे प्रकार में अमूर्त्त भावनाओं की प्रतीक देवियां हैं, जिन्हें अदिति, दिति, श्रद्धा आदि की संज्ञा दी गई है।

दिव्य देवियों में उषा को जिन रेखाओं और रंगों से अंकित किया गया है वे नारी सौन्दर्य को ही नहीं प्रकृति के चिर नवीन सामंजस्य को भी व्यक्त करते हैं।

वह 'आलोकदुकूलिन स्वर्ग कन्यका नूतन,
पूर्वायन शोभी उदित हुई उज्ज्वल तेन।'

ही नहीं है वरन् त्रेता संग्रामों की ऐश्वर्यों की रानी भी है।

रात्रि भी असंख्य नक्षत्रों से जगमगाता है, और ऋषि :र्थना रत' है:

माता ! रात्रि सौंप जाना तू हमें उषा के संरक्षण में,
उषा हमें फिर तुझे सौंप दे सन्ध्या समय विदा के क्षण में।

पार्थिव देवियों में पृथ्वी के जिस मातृरूप की कल्पना की गई है वह तो विश्व राष्ट्र का राष्ट्रगीत है।

धरा हुई जो धारण करके यह जग सारा
उसका वन्दन आज कर रहा गान हमारा।

कह कर ऋषि ने जीवमात्र की ओर से धरती को प्रणाम किया है।

आकाश को पिता अवश्य कहा गया है, परन्तु जो कोमल भावना धरती के लिए है वह आकाश के लिए नहीं मिलती।

सिन्धु, सरस्वती, गंगा, शुतद्री आदि नदियों में देवी रूप के स्तवन में उनके वेग गति आदि के अद्भुत चित्र हैं।

अमूर्त देवियों में अदिति विशेष महत्व रखती हैं। अदिति शब्द का अर्थ ही बन्धनमुक्त है। वह विश्व की मंगल विधायक सर्वशक्तिमती और आदित्यों की जन्मदात्री है। इसी के साथ दिति का भी उल्लेख है। वह सीमा का प्रतीक है, दैत्यों की माता नहीं। अन्य भी अमूर्त देवियां हैं।

अन्य प्राचीन संस्कृतियों के साथ उनकी देवदेवी सृष्टि भी नष्ट हो गई किन्तु भारत में यह मूल या परिवर्तित रूप में आज भी स्थिति रखती है। इसका कारण इन प्रतीकों की व्यापकता ही मानी जाएगी।

उषा, रात्रि, पृथ्वी, नदियां आदि अब तक हमारे साथ हैं, तथा सृष्टि के अन्त तक रहेंगे: अतः उनके विलुप्त होने की आशंका नहीं है। विज्ञान उनका तत्वगत विश्लेषण कर सकता है, परन्तु मनुष्य से इनका जो भावगत सम्बन्ध है, इसको तोड़ना विज्ञान के लिए दुष्कर है। जल के निर्णायक तत्वों को जान कर क्या मनुष्य तरंगित सागर को देखकर आनन्दित होना भूल सकेगा।

नारी का सामाजिक रूप उसके भावात्मक रूप से, उसी प्रकार प्रभावित होता है, जैसे वृक्ष के फल-फूल धरती की अन्तर्निहित आद्रता से।

वेदकालीन संस्कृति में नारी के व्यापक सौन्दर्य तथा सृजनशक्ति की

जो दिव्य भावात्मक कल्पना की गई है, उसने उसकी सामाजिक स्थिति को भी गरिमा दी है।

सृष्टि में पुरुष तथा नारी की उत्पत्ति का एक ही केन्द्र है। बृहदारण्यक उपनिषद कहता है कि ब्रह्म ने एकाकी न रह कर अपने आपको दो में विभक्त कर लिया, जिसके दक्षिण अंश को पुरुष तथा वाम को नारी की संज्ञा दी गई।

इस मान्यता ने समाज में दोनों की स्थिति समान कर दी। इतना ही नहीं, आगे चलकर शिव के अर्द्ध नारीश्वर रूप में भी यह धारणा साकार हुई है।

युग विशेष में समाज की स्थिति जानने के लिए उसके शिक्षा, धर्म, साहित्य, सदस्यों के सम्बन्ध, अधिकार आदि का अध्ययन आवश्यक हो जाता है।

शिक्षा की दृष्टि से वैदिक समाज में दो नारी-वर्ग प्राप्त होते हैं। एक में ब्रह्मवादिनी ऋषिकायें तथा दूसरे में गृहधर्म का पालन करने वाली गृहणियां। शिक्षा प्राप्ति के अधिकार समान होने के कारण क्रान्तद्रष्टा ऋषियों के समान ही द्रष्टा ऋषिकाओं के सूक्त भी महत्वपूर्ण हैं। परन्तु दोनों की भावधारा तथा कल्पना ने गंगा यमुना के धवल नील जल के समान मिलकर भी उनके सृजन को धूपछांही आभा दे डाली है। विश्वारा, अपाला, घोषा, लोपामुद्रा, श्रद्धा कामायनी वाक अम्भ्रणी आदि ऋषिकाओं के सूक्तों में जीवन के प्रति जो आस्था तथा शक्ति मिलती है, उसने भारतीय संस्कृति पर अपने अमिट चिन्ह छोड़े हैं। पुरुष का वीतराग होना इतना अनिष्टकर नहीं सिद्ध होता, जितना जन्मदात्री के रूप में नारी का, इसी से प्रकृति ने उसे एक मोहक और अभिन्न रागात्मकता दी है।

श्रद्धा कामायनी के सूक्तों तथा ऋषि मनु के सूक्तों में अन्तर है। मनु में जहां चंचल जिज्ञासा है, वहां श्रद्धा में अडिग आस्था है।

उसके सूक्तों में घोषित हुआ है—"श्रद्धा द्वारा ही अग्नि प्रज्ज्वलित होती है, श्रद्धा द्वारा ही आहुति दी जाती है।" श्रद्धा ही सब ऐश्वर्यों में श्रेष्ठ है। यह मैं स्पष्ट कहती हूं। वाक के सूक्त में जिसे देवी सूक्त भी कहते हैं नारी की शक्ति का ऐसा उद्घोष मिलता है, जिसमें आगामी युगों की शक्ति

उपासना के भी अंकुर हैं।

'अहं राष्ट्री संगमनी वसना, कहं रुद्राय धनुरातनोमि' आदि में वह कहती है : मैं राष्ट्र को बांधने और ऐश्वर्य देने वाली शक्ति हूं। मैं ही रुद्र के धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाती हूं। मैं ही आकाश और पृथ्वी में व्याप्त होकर मनुष्य के लिए संग्राम करती हूं। देवी सूक्त में महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाचण्डी शक्तियों का जो समाहार है, उसने भारत की सभी साधना पद्धतियों को प्रभावित किया है।

दूसरा वर्ग नारी के पत्नी, माता आदि रूप से सम्बन्ध रखता है।

विवाह समाज की सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था है, क्योंकि इसी पर सामाजिक सम्बन्ध निर्भर करता है।

विवाह के अनुष्ठान में आज भी हम जिन मन्त्रों का उपयोग करते हैं वे उसी अतीत संस्कृति के प्रवाह में बह कर हम तक आए हैं।

वैदिक समाज रचना में पत्नी सहधर्मचारिणी है—उसके बिना न कोई धर्मकाण्ड सम्पन्न हो सकता है, न सामाजिक कर्म सफल हो सकते हैं। इतने निकट सहयोग ने एक ओर समाज को पुरुष का परुष संरक्षण दिया और दूसरी ओर नारी की कोमल और मंगल विधायनी वत्सलता। स्त्री शिक्षित वयस्क और स्वयंवरा होती थी, इसका प्रमाण विवाह के अवसर पर की गई प्रतिज्ञाओं में मिलता है—

समन्जन्तविश्वेदेवा समापौ

हृदयानि नौ आदि मन्त्रों में वरवधू के हृदयों में एकता की कामना भी है—और जीवन पर्यन्त साथ रहने की प्रतिज्ञा भी।

सती होने या सहमरण की प्रथा नहीं थी। आपस्तम्ब धर्म सूत्रों के अनुसार पत्नी पारिवारिक सम्पत्ति में सह-अधिकारिणी भी है और पति की अनुपस्थिति में उस सम्पत्ति में से दान का अधिकार भी रखती है।

शासन की व्यवस्था, सभा, समिति और विदथ द्वारा होती, जिनमें भाग लेने और भाषण देने का भी नारी को अधिकार था। अध्यात्म विषयक वाद-विवादों मेंभी वह भाग ले सकती थी, इसका प्रमाण गान, नृत्य आदि कलाओं, बुनने कातने जैसे शिल्पों का भी उसे शिक्षण दिया जाता था। विश्वपला का युद्ध में जाना या मुदगलानी का शत्रुओं से युद्ध करके सौ

गायें छीन लाना प्रमाणित करता है कि नारी का कर्म क्षेत्र केवल गृह ही नहीं था। वह सन्तान की रक्षा से राष्ट्र की रक्षा तक फैला हुआ था। अतः भारतीय संस्कृति में कोमल कठोर दोनों तत्वों का यथास्थान समावेश स्वाभाविक था।

किन परिस्थितियों में नारी के इस अदिति रूप को बन्धन मिला यह आगामी युग की कथा है। पर ब्रह्मवादिनी मैत्रेयी का स्वर आज भी भारतीय संस्कृति का अविस्मरणीय जीवन गीत है :

असतो मा सद गमय।
मृत्यो मां अमृत गमय।
तमसो मा ज्योतिर्गमय।

संस्कार और संस्कृति

एक विशेष-भूखण्ड में जन्म और विकास पानेवाले मानव को अपनी धरती से पार्थिव अस्तित्व ही नहीं प्राप्त होता, उसे अपने परिवेश से विशेष बौद्धिक तथा रागात्मक सत्ता का दाय भी अनायास उपलब्ध हो जाता है। वह स्थूल-सूक्ष्म, वाह्य-आन्तरिक तथा प्रत्यक्ष-अगोचर ऐसी विशेषताओं का सहज ही उत्तराधिकारी बन जाता है, जिनके कारण मानव-समष्टि में सामान्य रहते हुए भी सबसे भिन्न पहचाना जा सकता है। यह सामान्यता में विशेषता न उसे मानव-समष्टि के निकट इतना अपरिचित होने देती है कि उसे आश्चर्य समझा जा सके और न इतना परिचित बना देती है कि उसके सम्बन्ध में जिज्ञासा ही समाप्त हो जाए।

इस प्रकार प्रत्येक भ-खण्ड का मानव दूसरों को जानता भी है और अधिक जानना भी चाहता है।

मनुष्य की स्थूल पार्थिव सत्ता उसकी रंग-रूपमयी आकृति में व्यक्त होती है। उसके बौद्धिक संगठन से, जीवन और जगत् सम्बन्धी अनेक जिज्ञासाएं, उनके तत्त्व के शोध और समाधान के प्रयास, चिन्तन की दिशा आदि संचालित और संयमित होते हैं। उसकी रागात्मक वृत्तियों का संघात उसके सौन्दर्य-संवेदन, जीवन और जगत् के प्रति आकर्षण-विकर्षण, उन्हें अनुकूल और मधुर बनाने की इच्छा, उसे अन्य मानवों की इच्छा से सम्पृक्त कर अधिक विस्तार देने की कामना और उसकी कर्म-परिणति आदि का सर्जक है।

मानव-जाति की इन मूल प्रवृत्तियों के लिए वही सत्य है, जो भवभूति ने करुण रस के सम्बन्ध में कहा है :

एको रसः करुण एव निमित्त भेदा-
द्भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्तबुद्बुद् तरंगमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव तु तत्समग्रम्॥

एक करुण रस ही निमित्त भेद से भिन्न-भिन्न मनोविकारों में परिवर्तित हो जाता है, जिस प्रकार आवर्त, बुद्बुद्, तरंग आदि में परिवर्तित जल, जल ही रहता है।

यह निमित्त भेद अर्थात् देश, काल, परिवेश आदि से उत्पन्न विभिन्नताएं, एक मानव या मानव-समूह को दूसरों से सर्वथा भिन्न नहीं कर देतीं, प्रत्युत् वे उसे पार्थिव, बौद्धिक और रागात्मक दृष्टि से विशेष व्यक्तित्व देकर ही मानव सामान्य सत्य के लिए प्रमाण प्रस्तुत करती हैं।

किसी मानव-समूह को, उसके समस्त परिवेश के साथ तत्त्वतः जानने के लिए जितने माध्यम उपलब्ध हैं, उनमें सबसे पूर्ण और मधुर उसका साहित्य ही कहा जाएगा। साहित्य में मनुष्य का असीम, अतः अपरिचित और दुर्बोध जान पड़ने वाला अन्तर्जगत् बाह्य जगत् में अवतरित होकर निश्चित परिधि तथा सरल स्पष्टता में बंध जाता है तथा सीमित, अतः चिर-परिचय के कारण पुराना लगने वाला बाह्य जगत् अन्तर्जगत् के विस्तार में मुक्त होकर चिर नवीन रहस्यमयता पा लेता है। इस प्रकार हमें सीमा में असीम की और असीम में संभावित सीमा की अनुभूति युगपद् होने लगती है। दूसरे शब्दों में, हम कुछ क्षणों में असंख्य अनुभूतियों और विराट ज्ञान के साथ जीवित रहते हैं, जो स्थिति हमारे सान्त जीवन को अनन्त जीवन से एकाकार कर उसे विशेष सार्थकता और सामान्य गन्तव्य देने की क्षमता रखती है। प्रवाह में बनने मिटने वाली लहर नव-नव रूप पाती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती रहती है, परन्तु प्रवाह से भटककर, अकेले तट से टकराने और बिखर जाने वाली तरंग की यात्रा वहीं बालू-मिट्टी में समाप्त हो जाती है। साहित्य हमारे जीवन को, ऐसे एकाकी अन्त से बचाकर उसे जीवन के निरन्तर गतिशील प्रवाह में मिलने का सम्बल देता है।

जहां तक परिवर्तन का प्रश्न है, मनुष्य के पार्थिव परिवेश में भी निरन्तर परिवर्तन हो रहा है और उसके जीवन में भी। जहां किसी युग में ऊंचे पर्वत थे, वहां आज गहरा समुद्र है और जहां अथाह सागर लहरा रहा है, वहां किसी भावी युग में दुर्लंघ्य पर्वत शिर उठा कर खड़ा हो सकता है। इसी प्रकार मनुष्य के जीवन ने भी सफल असफल संघर्षों के बीच जाग कर,

सोकर, चलकर, बैठकर, यात्रा के असंख्य आयाम पार किए हैं। पर न किसी भौगोलिक परिवर्तन से धरती की पार्थिव एकसूत्रता खण्डित हुई है, न परिवेश और जीवन की चिर नवीन स्थितियों में मनुष्य अतीत बसेरों की स्मृति भला है।

अपने विराट् और निरन्तर परिवर्तनशील परिवेश तथा अनदेखे अतीत और केवल कल्पना में स्थिति रखनेवाले भविष्य के प्रति मनुष्य की आस्था इतनी विशाल और गुरु है कि उसे संभालने के लिए उसने एक विराट्, अखंड और सर्वज्ञ सत्ता को खोज लिया है, जो हर अप्रत्यावर्तित अतीत की साक्षी और हर अनागत भविष्य से प्रतिश्रुत है।

हमारा विशाल देश, असंख्य परिवर्तन सम्भालने वाली अखण्ड भौगोलिक पीठिका की दृष्टि से विशेष व्यक्तित्व रखता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य जाति के बौद्धिक और रागात्मक विकास ने उस पर जो अमिट चरणचिह्न छोड़े हैं, उन्होंने इसके सब ओर महिमा की विशेष परिधि खींच दी है। यह उसका दाय भी है और न्यास भी।

जिस प्रकार ऊंचे पर्वत-शिखर पर जल, हिम बनकर शिला-खण्डों के साथ पाषाण रूप में अनन्त काल तक स्थिर भी रह सकता है और अपनी तरलता के साथ प्रपात और प्रपात से नदी बनकर निरन्तर प्रवाहित भी होता रह सकता है, इसी प्रकार मानव-संस्कृति को विकास के लिए एक बिन्दु पर चिर-निस्पन्दता भी प्राप्त हो सकती है और अनवरत प्रवाहशीलता भी। एक में एकरस ऊंचाई है और दूसरी स्थिति में समतल पाने के लिए भी पहले उसका निम्नगा होना अनिवार्य ही रहेगा।

धरती के प्रत्येक कोने और काल के प्रत्येक प्रहर में मनुष्य का हृदय किसी उन्नत स्थिति के भी पाषाणीकरण को अभिशाप मानता रहा है। इस स्थिति से बचने के उसने जितने प्रयत्न किए हैं उनमें साहित्य उसका निरन्तर साक्षी रहा है।

दर्शन पूर्ण होने का दावा कर सकता है, धर्म अपने निर्भ्रान्त होने की घोषणा कर सकता है, परन्तु साहित्य मनुष्य की शक्ति-दुर्बलता, जय-पराजय, हास-अश्रु और जीवन मृत्यु की कथा है। वह मनुष्य रूप में अवतरित होने पर स्वयं ईश्वर को भी पूर्ण मानना अस्वीकार कर देता है।

पर इस स्वेच्छा स्वीकृत अपूर्णता या परिवर्तनशीलता से जीवन और उसके विकास की एकता का सूत्र भंग नहीं होता।

नदी के एक होने का कारण उसका पुरातन जल नहीं, नवीन तरंग-भंगिमा है। देश-विशेष के साहित्य के लिए भी यही सत्य है। प्रत्येक युग के साहित्य में नवीन तरंगाकुलता उसे मूल प्रवाहिनी से विच्छिन्न नहीं करती; वरन् उन्हीं नवीन तरंग भंगिमाओं की अनन्त आवृत्तियों के कारण मूल प्रवाहिनी अपने लक्ष्य तक पहुंचने की शक्ति पाती है।

इस दृष्टि से यदि हम भारतीय साहित्य की परीक्षा करें तो काल, स्थिति, जीवन, समाज, भाषा, धर्म आदि से सम्बन्ध रखने वाले अनन्त परिवर्तनों की भीड़ में भी उसमें एक ऐसी तारतम्यता प्राप्त होगी जिसके अभाव में किसी परिवर्तन की स्थिति सम्भव नहीं रहती। समुद्र की बेला में जो धरती व्यक्त है, उसी की अव्यक्त सत्ता तल बनकर समुद्र की अथाह जलराशि को संभालती है। हमें समुद्र के जल का व्यवधान पार करने के लिए तट की धरती चाहिए और समुद्र को जल का व्यवधान बने रहने के लिए तल की धरती चाहिए। साहित्य के पुरातन और नूतन के अविच्छिन्न सम्बन्ध के मूल में भी जीवन की ऐसी ही धरती है।

संस्कृति मनुष्य के, बुद्धि और हृदय के जिस परिष्कार और जीवन में उसके व्यक्तीकरण का पर्याय है, उसका दाय विभिन्न भूखंडों में बसे हुए मानव-मात्र को प्राप्त है, परन्तु संस्कृति की साहित्य में प्राचीनतम अभिव्यक्ति वेद-साहित्य के अतिरिक्त अन्य नहीं है।

वस्तुत: देश काल की सीमा से परे साहित्य मानव-जाति के विकास की आदिम गाथा है।

सहस्रों वर्षों के व्यवधान के उपरान्त भी भारतीय चिन्तन, अनुभूति, सौन्दर्यबोध, आस्था में उसके चिह्न अमिट हैं। यह तथ्य तब और भी अधिक विस्मयकारक बन जाता है, जब हम समय के कुहरे के अनन्त स्तर और अपनी दृष्टि की व्यर्थता का अनुभव करते हैं। पर प्रकृति के जिस नियम से मनुष्य के शरीर को पैतृक दाय के रूप में शक्ति, दुर्बलता, व्याधि विशेष के कीटाणु, रोग विशेष के प्रतिरोध की क्षमता आदि अनजाने ही प्राप्त हो जाते हैं, उसी नियम से उसके मानसिक गठन का प्रभावित होना

भी स्वाभाविक कहा जाएगा।

जीवन की दृष्टि से वेद-साहित्य इतना अधिक विविध है कि उसके लिए, महाभारत की विशालता व्यक्त करने वाली उक्ति 'यन्नभारते तन्न-भारते' ही चरितार्थ होती है।

दाशराज्ञ युद्ध जैसे सर्वसंहारी संघर्ष में महाभारत का पूर्वरंग है। अनेक नाटकीय संवादों में नाट्यशास्त्र की भूमिका है। विभिन्न विचारों के प्रतिपादन में दर्शन की अनेक आस्तिक नास्तिक सरणियों की उदार स्वीकृति है। जल, स्थल, अन्तरिक्ष, आकाश आदि में व्याप्त शक्तियों की रूपात्मक अनुभूति और उनके रागात्मक अभिनन्दन में काव्य और कलाओं के विकास के इंगित हैं। व्यक्ति और समष्टि की कल्याण कामनाओं में जीवन के नैतिक मूल्यों के निर्देश हैं। कर्म के विस्तृत विवेचन के कर्त्तव्य की रेखाएं आंकी गई हैं। व्यापक कोमल कल्पना के छायालोक में, जीवन के कठोर सीमित यथार्थ चित्रों ने धरती के निकट रहने का संकेत दिया है।

भारतीय जीवन में स्थूल कर्म से लेकर सूक्ष्म बौद्धिक प्रक्रिया और गम्भीर रागात्मकता तक जो विशेषताएं हैं, उनका तत्त्वतः अनुसन्धान हमें किसी न किसी पथ से इस बृहत् जीवन-कोश के समीप पहुंचाए बिना नहीं रहता।

इसका तात्पर्य यह नहीं कि वर्तमान, अतीत की अनुकृति मात्र है। पर हम यदि मानव जीवन की निरन्तर और किसी सामान्य लक्ष्योन्मुख गति-शीलता को स्वीकृति देते हैं तो उसकी यात्रा के आरम्भ का कोई बिन्दु स्वीकार करना ही होगा, जो गन्तव्य के चरम और अन्तिम बिन्दु से अदृष्ट रहकर भी उससे विच्छिन्न नहीं हो सकता। विकास पथ का एक होना यात्रियों की विभिन्नता, उनकी शक्तियों की विषमता, पाथेय की विविधता और गति की अनेकता को अस्वीकार नहीं करता। इतना ही नहीं, वह चलने वालों को बौद्धिक और रागात्मक वृत्तियों की मुक्तावस्था को भी किसी संकीर्ण क्षितिज से नहीं घेरता।

धर्म ग्रन्थों के लिए मनुष्य का एकांगी दृष्टि ऐसा अंधेरा बन्दी गृह बन जाता है, जिसमें उनकी उज्ज्वल रेखाएं भी धूमिल हो जाती हैं। एक ओर धर्म विशेष के प्रति आस्थावान तत्सम्बन्धी ग्रन्थों के चतुर्दिक् अपने अन्ध-

विश्वास और रूढ़िवादिता की अग्निरेखा खींच देते हैं और दूसरी ओर भिन्न धर्म पद्धति के अनुयायी अपने चारों ओर उपेक्षा की इतनी ऊंची दीवारें खड़ी कर लेते हैं, जिन्हें अन्य दिशा से आने वाली वायु के पंख भी नहीं छू पाते। ऐसी स्थिति में धर्म ग्रन्थ, अनजान कृपण की रत्नमंजूषा बन जाते हैं, जिसके यथार्थ मूल्यांकन में एक ओर मोहान्धता बाधक है और दूसरी ओर अपरिचय जनित उपेक्षा।

यह स्वाभाविक ही है कि धर्म ग्रन्थों की सीमा के भीतर रहकर अपना परिचय देने वाले साहित्य को भी इस भ्रान्त परिचय और अपरिचय का अभिशाप झेलना पड़ा। ऐसे धर्म-ग्रन्थों की संख्या अधिक है जो अपने कथ्य को मर्मस्पर्शी सामान्यता, शैली की मधुर स्पष्टता और भाषा के सहज सात्त्विक प्रवाह के कारण साहित्य की कोटि में स्थिति रखते हैं, परन्तु उनके लिए साहित्य की देश-काल सम्प्रदायातीत मुक्ति दुर्लभ ही रहेगी।

वेद साहित्य संकीर्ण अर्थ में धर्म-विशेष का परिचायक ग्रन्थ-समूह नहीं है। उसमें न किसी धर्म-विशेष के संस्थापक के प्रवचनों का संग्रह है और न किसी एक धर्म की आचार-पद्धति या मतवाद का प्रतिष्ठापन या प्रतिपादन है। वस्तुतः वह अनेक युगों के अनेक तत्त्व चिन्तक ज्ञानियों और क्रान्ति-द्रष्टा कवियों की स्वानुभूतियों का संघात है। मनुष्य की प्रज्ञा की जैसी विविधता और उसके हृदय की जैसी रागात्मक समृद्धि वेद-साहित्य में प्राप्त है, वह मनुष्य को न एकांगी दृष्टि दे सकती है न अन्धविश्वास। आकाश के अखण्ड विस्तार में केन्द्रित दृष्टि के लिए घट की सीमा में प्रति-बिम्बित आकाश ही अन्तिम सत्य कैसे हो सकता है!

वेदमनीषा 'नेति नेति' कहकर जिसकी अनन्तता स्वीकार करती है, उसी की सीमा निश्चित करने की भूल उससे सम्भव नहीं। पर वह ज्ञान-राशि ऐसा समुद्र है, जिसके तट पर बालकों को शंख घोंघे मिल सकते हैं, तैरना न जानने वाले को छिछला जल सुलभ है, गहराई में पहुंचकर आंखें खोलने वाले को मोती प्राप्त हो सकता है और अपने भार से डूबने वाले विशालकाय जहाजों का चिह्न शेष नहीं रहता। पर न घोंघे की उपलब्धि से समुद्र मूल्यरहित हो जाता है और न मोती से महार्घ। न तट पर गहराई का अभाव उसे तुच्छ प्रमाणित कर सकता है और न मंझधार के अतल

जल पर ही उसकी महत्ता निर्भर है। वस्तुतः इन विविधताओं को एक अखंड पीठिका देने वाली क्षमता ही उसकी महिमा का कारण है।

अवश्य ही हमारे और इस बृहत् जीवन-कोश के बीच समय का पाट इतना चौड़ा और गहरा हो गया है कि उस तट के एक स्वर, एक संकेत को भी हम तक पहुंचने के क्रम में अनेक भूमिकाएं पार करनी पड़ी हैं।

वेद-साहित्य के निर्माण काल के सम्बन्ध में इतना अधिक मतभेद है कि जिज्ञासु का किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाना ही स्वाभाविक है। विविध मत-वादियों ने मानव-मनीषा की इस आश्चर्य-कथा का रचना काल दो हजार वर्ष ईसा पूर्व से लेकर पन्द्रह हजार वर्ष ईसा पूर्व तक फैला दिया है और वे अपने मत के समर्थन में जो तर्क उपस्थित करते हैं, वे उन वर्षों की संख्या से अधिक हैं।

हमारे शोध के मापदण्ड इतिहास के हैं, अतः इतिहास की सीमा से अनन्त दूरी रखने वाले युग यदि उनकी सीमा के बाहर हों तो आश्चर्य नहीं।

आलोक को सूर्य से पृथ्वी तक आने में कितना समय लगता है, अन्त-रिक्ष के एक छोर से दूसरे छोर तक ध्वनि की यात्रा किस क्रम से कितने समय में पूर्ण होती है, यह जानने में समर्थ विज्ञान भी इस जिज्ञासा का समाधान नहीं कर सका है कि मानवीय विचार और संवेदना का, एक युग से दूसरे में संक्रमण किस क्रम और कितने समय की अपेक्षा रखता है। पर वर्षों की संख्या और इतिहास की ऊहापोह के अभाव में भी हमारे हर चिन्तन, हर कल्पना, हर भावना में मानो 'तत्त्वमसि'—तुम 'वही हो' का कभी स्पष्ट कभी अस्पष्ट स्वर गूंजता रहता है, जो प्रमाणित करता है कि हमारे बुद्धि और हृदय के तारों में कोई दूरागत झंकार भी है, जिसके सम्बन्ध में तर्क के निकट असंख्य उलझनें हैं, उसके सम्बन्ध में हमारा हृदय कोई प्रश्न नहीं करता, क्योंकि हमारी अन्तश्चेतना उसे अपना स्वीकार कर लेती है।

इतना तो निश्चित है कि वेद-साहित्य जिस रूप में हमें उपलब्ध है, उस तक पहुंचने में वेद कालीन मनीषा को विशाल समय-सागर पार करना पड़ा होगा। भाषा, छंद, चित्रात्मक भाव, गहन-विचार सरणि आदि से यह

किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता कि वह जीवन का तुतला उपक्रम है।

वह तो मानवता के तारुण्य का ऐसा उच्छल प्रपात है जो अपने दुर्वार वेग को रोकनेवाली शिलाओं पर निर्मम आघात करता और मार्ग देने वाली कोमल धरती को स्नेह से भेंटता हुआ आगे बढ़ता है। उस तारुण्य के पास अदम्य शक्ति, अडिग विश्वास और अपने सुन्दर परिवेश के लिए अम्लान भावसुमन हैं। वह जीवन से विरक्त नहीं होता, संघर्ष से पराजय नहीं मानता, प्रतिकूल परिस्थितियों से पराङ्मुख नहीं होता और कर्म को किसी कल्पित स्वर्ग नरक का प्रवेश पत्र नहीं बनाता।

ऐसे तारुण्य की कथा अपनी सरल स्पष्टता में भी रहस्यमयी हो सकती है, क्योंकि उसमें प्रवृत्तियां, दीर्घ अभ्यास से स्थिर एकरसता नहीं पा लेतीं, प्रत्युत उनके विकास को अनेक अपरिचित दिशाएं और अतर्कित परिणाम सम्भव हैं। उदाहरण के लिए हम वैदिक चिन्तन को ले सकते हैं, जो मानव सुलभ जिज्ञासा और उसके सम्भावित समाधानों का संघात होने के कारण सबके लिए सामान्य है। परन्तु उसकी षड्दर्शनों में परिणति जब छह विशेष चिन्तन-पद्धतियों में स्थिर हो गई, तब प्रत्येक पद्धति के सावधान समर्थक और सतर्क विरोधी उत्पन्न हो गए, क्योंकि ज्ञान जब मतवाद की कठिन रेखाओं में सीमित होकर अपना परिचय देता है तब विवादैषणा उसका सहजात परिणाम है। वैदिक चिन्तन के मूल में ऋत या उस सनातन नियम का बोध था, जिससे सृष्टि का समग्र जड़-चेतन व्यापार नियमित और संचालित होता है और इस रूप में चिन्तन की सामान्यता निर्विवाद ही रहती है।

वैदिक साहित्य चारों वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक और उपनिषदों तक फैला हुआ है, परन्तु उसका चेतना-केन्द्र वेद-संहिताएं और उनमें भी ऋग्वेद ही कहा जाएगा, जिससे मानव की बुद्धि और उसका हृदय विविध विचार और भावनाओं को जीवन-रस पहुंचाता रहा है।

सत्य निर्मित नहीं किया जाता, उसे साधना से उपलब्ध किया जाता है, यह आज भी प्रमाणित है। वैदिक ऋषि भी अपनी अन्तश्चेतना में जीवन के रहस्यमय सत्य की अनुभूति प्राप्त करता है और उसे शब्दायित करके दूसरों तक पहुंचाता है। यह सत्य उसके तर्क-वितर्क का परिणाम

नहीं है, न वह इसका कर्तृत्व स्वीकार कर सकता है। जो नियम सृष्टि को संचालित करते हैं, ऋषि उनका द्रष्टा मात्र है। जीवन के अव्यक्त रहस्यों के सृजन का तो प्रश्न ही क्या, जब जगत् के भौतिक तत्त्वों की खोज करने वाला आज का वैज्ञानिक भी यह कहने का साहस नहीं करता कि वह भौतिक तत्त्वों का सृष्टा है।

कवि या कलाकार को भी जीवन के किसी अन्तर्निहित सामंजस्य और सत्य की प्रतीति इसी क्रम से होती है, चाहे भाषा, छंद और अभिव्यक्ति-पद्धति उसकी व्यक्तिगत हो। जल की एकता के कारण ही जैसे उसके एक अंश में उत्पन्न कम्पन दूसरी ओर तक पहुंच जाती है, अन्तरिक्ष का विस्तार ही जैसे एक ओर की ध्वनि को दूसरी ओर तक संक्रमित कर देता है, वैसे ही चेतना की अखंड व्याप्ति, अपने ऋत् रूप सत्य को भिन्न चेतना-खण्डों के लिए सहज सम्भव कर देती है।

वाणी मनुष्य का सबसे मौलिक और चमत्कारी आविष्कार है। प्रकृति ने मनुष्य के साथ पशु जगत् को भी अपने सुख-दुख व्यक्त करने के लिए कुछ ध्वनियां दी हैं। इतना ही नहीं, जड़ प्रकृति में भी आकर्षण-विकर्षण के नियम से कुछ स्वर उत्पन्न और विलीन होते रहते हैं। पर मनुष्य को प्राप्त ध्वनि-समूह की जैसी अक्षर-परिणति हो सकी है, वैसी न पशु-पक्षियों को प्राप्त ध्वनियों के लिए सम्भव थी न प्रकृति की निस्तब्धता भंग करने वाले स्वर-संघात के लिए, क्योंकि वे प्रकृति के परिवर्तन या अपनी आवश्यकताएं व्यक्त करने में उनका उतना ही प्रयोग करते हैं जितना प्रकृति को अभीष्ट है।

मनुष्य ने प्राकृतिक दाय को स्वीकार करके भी उसे अपना नियामक नहीं बनने दिया, परिणामतः प्रकृतिदत्त उत्तराधिकार में अपनी सृजनात्मक चेतना मिलाकर उसने उसमें जीवन के रहस्य का समाधान पा लिया। वेदकालीन जीवन से अपना बौद्धिक और रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने के लिए हमें, ज्ञान के उन्नत शिखरों पर ही दृष्टि केन्द्रित न करके उसके चरणतल में फैली सजल श्यामल धरती का स्पर्श भी पाना होगा। समय के दूसरे छोर पर खड़े हुए मानव के सौन्दर्य-बोध, उसके राग-विराग, हर्ष-विश्रान्ति आदि की गाथा से परिचित होने पर ही उससे हमारा ऐसा

तादात्म्य सम्भव है जो देशकाल की दूरी अस्वीकार कर मानव-हृदय की समानता प्रमाणित कर सकता है।

जीवन को सब ओर से स्पर्श करने वाली दृष्टि मूलतः और लक्ष्यतः सामंजस्यवादिनी ही होती है। वेद-साहित्य में आकाश, अन्तरिक्ष और पृथ्वी में व्याप्त शक्तियों को जो देवत्व प्राप्त हुआ है, उसमें भी एक विशेष तारतम्यता का सौन्दर्य मिलता है। सूर्य, उषा, वरुण आदि आकाश में सबसे ऊंची स्थिति रखने के कारण सृष्टि का नियमन और संचालन करते हैं। वायुमंडल में स्थिति रखने वाले इन्द्र, मरुत आदि उथल-पुथल उत्पन्न करके भी जल-वृष्टि से पृथ्वी को उर्वर बनाते हैं। अग्नि और सोम की पृथ्वी पर इतनी उपयोगी स्थिति थी कि वे पृथ्वी के ही देव मान लिए गए। यह देवताओं की अनेकता धीरे-धीरे एक केन्द्र-बिन्दु में समाहित हो गई, परन्तु वेदकालीन चिन्तक की जिज्ञासा किसी एक व्यक्तिगत देव तक पहुंचकर रुकने वाली नहीं थी। अतः इस अनेकता का विलय एक अखंड व्यापक चेतना में उसी प्रकार हो गया जैसे विभिन्न तरंग, बुद्बुद आदि समुद्र से बनकर उसी में विलीन हो जाते हैं।

इन देवताओं और प्रकृति पर आरोपित चेतना-खंडों की कल्पना को, वैदिक कवि ने सौन्दर्य की जिन रेखाओं में बांधा है, वे तत्त्वतः भारतीय हैं। उनका अपने परिवेश से अविच्छिन्न सम्बन्ध ही उनकी सर्वमान्यता का कारण है। खण्ड सौन्दर्य को विराट की पीठिका पर रखकर देखने का संस्कार गहरा है, अतः देवत्व से अभिषिक्त न होने पर भी वे खण्ड अपनी स्वतः दीप्ति से दीपित हो उठते हैं। पृथ्वी, नदी, अरण्य आदि अपनी सत्ता विशेष के कारण ही जीवन के सहचर और किसी व्यापक अखण्ड के अंशभूत रहकर सार्थकता पाते हैं। वैदिक चिन्तक की तत्त्व-स्पर्शी दृष्टि, सृष्टि की असीम विविधता को पार कर एक तत्त्वगत सूत्र खोज लेती है।

वेद साहित्य की चिन्तन-पद्धति ने यदि भारतीय चिन्तन को दिशा ज्ञान दिया है तो उसकी रागात्मक अनुभूति ने भावी युगों की काव्य-कलाओं में स्पन्दन जगाया है। प्रकृति से रागात्मक सम्बन्ध, उस पर चेतन व्यक्तित्व का आरोप, रहस्य को व्यक्त करने वाली जटिल उक्तियां, भक्तिजनित आत्म-निवेदन आदि बिना कोई संस्कार छोड़े हुए अन्तर्हित

हो गए, यह समझना मानव-चेतना की संश्लिष्टता पर अविश्वास करना होगा।

यह अनुभव सिद्ध है कि भाषा की परम्परा और पुस्तकीय ज्ञान का क्रम टूट जाने पर भी मनुष्य को बुद्धि और उसका हृदय, पूर्व संस्कारों का दाय सुरक्षित रखने में समर्थ है। संस्कृति इसी रक्षा का पर्याय है और इसी कारण लिखित शास्त्रीय ज्ञान से अपरिचित भारतीय ग्रामीण नागरिक से अधिक संस्कृत कहा जाएगा। वैदिक कालीन संस्कार निधि भी इसी प्रकार सुरक्षित रही हो तो आश्चर्य नहीं।

मुद्रक : हरिकृष्ण प्रिंटर्स, दिल्ली-32

